योग पथ

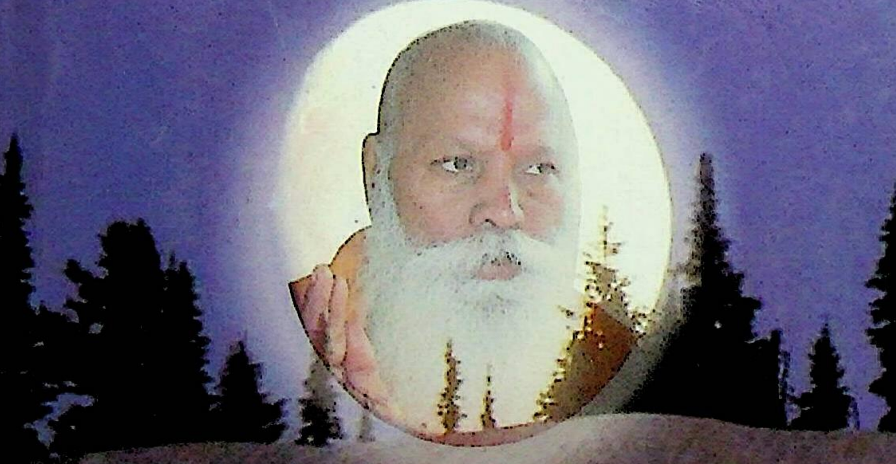

-ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

योग-पथ

ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा

दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर,
पिंजौर, हरियाणा
फोन - 01733-266170

प्रकाशक :
दिव्यालोक प्रकाशन
ब्रह्मर्षि आश्रम,
विराट नगर, पिंजौर (हरियाणा)
फोन :–01733–266170

© लेखकाधीन

सम्पादन :– ब्रह्मऋता परिव्राजिका

शब्द संयोजन :– *अमित शर्मा*

छटा संस्करण :– कार्तिक पूर्णिमा 8 नवम्बर 2003

प्रतियाँ :– 2100

मूल्य :– 40/-

मुद्रक :–दी प्रैस, नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032

भूमिका

'' मैं प्राकृतिक शक्तियों का विजेता बन रहा हूँ, दिन–प्रतिदिन विकास की ओर जा रहा हूं'', ऐसा साधारण विचार है आज के मानव का। किन्तु ज़रा विचार तो करो, ''अशान्ति के साम्राज्य में नित्य नवीन मानसिक तथा शारीरिक रोगों का उदय, उसके परिणामस्वरूप निराश तथा निर्बल जीवन मे चिन्ता, बेचैनी? क्या यही लक्षण हैं विकास के? यदि नही तो ऐसा भ्रम क्यों? यदि आश्चर्य है तो समझने में, विचारने में प्रमाद क्यों? क्या आप इन विषमताओं के भ्रम से ऊबकर तनिक प्रकाश की ओर आना चाहते हैं? यदि वास्तव में ऐसी चाह है तो आइए इस योग–पथ की ओर।

जरा सोचो ! जिसे हम चाहते हैं वह हमारा अपना नहीं बनता और जिसे हम नहीं चाहते वह हमारे समीप आता है। प्रत्येक जीव की चाह है– आनन्द प्राप्ति किन्तु आनन्द प्राप्ति की चाह मे किये हुए श्रम से श्रान्त मानव पाता है दु:ख तथा अशान्ति। तथ्य यह है कि जिसकी हमें चाह नहीं वह कभी हमारा अपना नहीं हो सकता, जो हमारी चाह है वह कभी हमसे भिन्न नहीं। जो हमसे किसी काल में भी भिन्न हो सकता हो उसके साथ हमारा नित्य सम्बन्ध नही हो सकता। अत: नित्य आनन्द को कभी कहीं से प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु अभिलाषा का अस्तित्व ही अभिलाषा की पूर्ति के साधन का प्रमाण है क्योंकि प्यास का होना ही जल के अस्तित्व को सिद्ध करता है, अत: इस आनन्द प्राप्ति का साधन अवश्य है कोई! आपात तो दुर्गम प्रतीत होने वाले किन्तु अपने में ही स्थित आनन्द के उसी साधन का सरल, सुन्दर तथा सरस

विवेचन है प्रस्तुत पुस्तक में।

हम क्या हैं? वह आनन्द जिसे हम चाहते हैं, क्या है? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर योग–पथ के प्रकाश में मिलता है। इस जीव का वह परम चेतन सत्–चित्–आनन्द स्वरूप परमात्मा (जिससे वह प्रकाशित हो रहा है) ही कारण है और कारण कार्य से कदापि भिन्न नहीं हो सकता। अत: यह सिद्ध होता है कि आनन्द ही जीव का अपना स्वरूप है किन्तु गुणासक्ति से उसकी विस्मृति मे ही दु:खानुभूति होती है। अत: आनन्द को किसी क्रिया विशेष से नही पाया जा सकता बल्कि निज स्वरूप की जानकारी ही आनन्दानुभूति का साधन है। स्वरूप बोध से उसमें अनुरक्ति में ही एकत्व होता है। इसी कार्य कारण की एकता को योग–पथ में 'योग' कहा गया है।

योग शब्द का अर्थ आंख–कान मूंदना अथवा उलटे लटकना नहीं अर्थात् किसी क्रिया विशेष का नाम योग नहीं। योग एक अवस्था है। युज् से निष्पन्न योग शब्द का अर्थ उस तथ्य में निहित है जो प्रत्येक कार्य कारण के सम्बन्ध में देखा जाता है। जल का जल से योग होता है और दूध के साथ उसका संयोग होता है। सजातीय तत्त्वों में योग होता है और विजातीय तत्त्वों में संयोग। संयोग में वियोग भी है, योग में वियोग नहीं, अत: जीव का कारण यदि वह आनन्द स्वरूप है तो जीव का आनन्द के साथ नित्य सम्बन्ध है। मानव को दु:ख क्यों? समस्याएं, बेचैनी क्यों? इन सब विषमताओं का कारण निज स्वरूप की विस्मृति और अनात्म में आत्म निष्ठा है। जीव अपने कारण से विमुख होकर अनात्म में अहं स्थापित करके नाना प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होकर आनन्द को पाना चाहता है जो सर्वथा असम्भव है। आनन्दानुभूति की चरमावस्था उस योग की प्राप्ति के आधार स्वरूप निज स्वरूप बोध की साधनाभूत क्रियाओं का सुन्दर विवरण तथा विवेचन ही ''योग–पथ'' नाम से पाठकों से सम्मुख रखा गया है।

स्वरूप ज्ञान के लिए साधन की आवश्यकता है। श्रद्धा तथा विश्वास

के साथ–साथ इन्द्रिय निग्रह साधन के परमावश्यक अंग हैं क्योंकि तत्परता से साधन में तीव्रता आती है। साधक के जीवन में दैनिक नियमों का विशेष स्थान है। इन बातों को सामने रखकर शास्त्रों में बताये गए अनेक प्रकार के साधनो मे से अपनी रुचि के अनुसार किसी भी साधन को चुनकर साधक किस प्रकार की दैनिक चर्या को अपनाकर शीघ्रातिशीघ्र निज लक्ष्य को पा सकता है, इस बात को ''योग–पथ'' में बड़े सुन्दर तथा सुगम ढग से समझा दिया गया है। साधारण जीवन से ऊपर होते हुए भी व्यावहारिक जीवन के स्तर पर खड़े होकर बातें की गई हैं। अत: इसमें प्रत्येक बात आपको अपने जीवन की मिलेगी और प्रत्येक हृदय से सम्बद्ध होगी, कारण कि यह एक सार्वभौम हृदय की अभिव्यक्ति है।

''**स्वस्थे चित्ते बुद्धय: सम्भावन्ति**'' A sound mind in a sound body. इस नियम को मानते हुए दैनिक नियमों में शारीरिक शुद्धि को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। शारीरिक शुद्धि तथा पुष्टि का सर्वोत्तम साधन आसन तथा प्राणायाम की क्रियाओं को बताया गया है। सरलतम और अधिकतम लाभप्रद आसनों तथा प्राणायाम की क्रियाओं को कितने स्पष्ट तथा क्रमिक ढंग से वर्णित किया गया है, यह ध्यान से पढ़ने पर ही अनुभव होगा। एक–एक वाक्य को पढ़ते जाइये, धीरे–धीरे आप देखेंगे कि आपके मानस पटल पर एक योगी के भिन्न–भिन्न मुद्राओं में सजीव चित्र उतरते जाएंगे। इस प्रकार का वर्णन वैचित्र्य, अपूर्व कला सौन्दर्य, सजीव चित्रण शैली, सरस भावाभिव्यक्ति तथा मौलिक भाषा–सौष्ठव एक अपने ही कोटि का है। यह कृति साहित्यिक दृष्टिकोण को समक्ष रखकर न लिखी गई होने पर भी साहित्यिक जगत् में एक अनुपम स्थान रखती है। योगासनों द्वारा शारीरिक शुद्धि, इन्द्रिय–निग्रह, मनोनिग्रह तथा स्वस्थ बुद्धि होने पर साधक के जीवन में किस प्रकार विचारों का विकास, विवेक का प्रकाश, स्वरूप बोध, अनुराग, प्रेम, एकत्व तथा योगावस्था की प्राप्ति होती है, इन सब बातों का क्रमिक वर्णन अनुभव के आधार पर किया गया है।

''योगपथ'' को पढ़ते समय आपको सन्दर्भों मे पारस्परिक सम्बन्ध–अन्वय का अभाव प्रतीत होगा। इसका कारण लेख दोष नहीं अपितु स्वतन्त्र विचारों का संकलन है। पूज्य गुरुदेव के द्वारा भिन्न–भिन्न स्थानों पर समय–समय पर भिन्न–भिन्न साधकों को (दिये गए) पत्रों के रूप में, पारस्परिक बातचीत के रूप में जो अमृत वर्षण होता रहा, उस रसामृत–पान का पुनः अवसर प्राप्त होता रहे, इस लालसा से उसका संकलन होता रहा। उन्हीं वचनामृत बूंदों को भावना से ठोस रूप देकर माला के रूप में गुथित किया गया है। अतः इस अपूर्व अलौकिक माला का एक–एक रत्न अपना (पृथक्) भिन्न अस्तित्व तथा महत्त्व रखता है और संगठित रूप में साधक के जीवन का आधार बनता है।

सिद्धान्त और व्यवहार के अपूर्व समन्वय को जीवन में उतारना ही इसका वास्तविक मूल्यांकन है। आशा है पाठकगण इसके बाह्य रूप की ओर ध्यान न देते हुए, गहराई में पैठकर वास्तविकता तक पहुचने का प्रयत्न करेंगे।

निवेदिका –

ब्रह्मवादिनी कृष्ण कान्ता परिव्राजिका

सम्वत् २०२३

पाठकों से

मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मानव जाति प्राकृतिक विधानानुसार प्राप्त हुए योग्यता तथा शक्ति के द्वारा जीवन की वास्तविक चाह को पूर्ण करने के लिए सतत पुरुषार्थ का अवलम्बन ले। पुरुषार्थ की परिभाषा जिस अर्थ में साधारणतया की जाती है, वास्तव में उसे पुरुषार्थ की कोटि में रखना उचित नहीं। जीवन में कर्म के तीन भेद हैं–परिश्रम, प्रयत्न तथा पुरुषार्थ। मन की अध्यक्षता में शरीर तथा इन्द्रियों के द्वारा जे कुछ कार्य किया जाता है, उसे परिश्रम कहते हैं। शरीर की पूर्ति के लिए ही इसकी आवश्यकता है अथवा शारीरिक सुख–सुविधा में ही परिश्रम के फल की परिसमाप्ति होती है।

बुद्धि के प्रकाश में मन तथा इन्द्रियों के द्वारा जिस क्रिया का सम्पादन किया जाता है, उसे ही प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्नशील मानव ही जीवन के भौतिक क्षेत्र में अभ्युदय को प्राप्त होता हुआ अध्यात्म की ओर अग्रसर होता है किन्तु उसके द्वारा जीवन के अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति असम्भव है कारण कि अनित्य के माध्यम से नित्य की प्राप्ति नहीं होती, जैसे कि अन्धकार के द्वारा प्रकाश कभी भी नहीं देखा जा सकता।

पुरुषार्थ ही परम सिद्धि का साधन है। चेतन के प्रकाश में बुद्धि तथा मन के द्वारा जो क्रिया होती है, उसे ही पुरुषार्थ कहते हैं। प्रत्येक मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपर्युक्त त्रिविध क्रियाओं का अवलम्बन लेकर आन्तरिक अभिलाषा की पूर्ति के लिए प्रवृत्त होता है। यद्यपि गीता में प्रत्येक क्रिया की पूर्ति के लिए पांच हेतु बताए गए हैं –

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।

(गीता १८/१४)

इस विषय में आधार और कर्त्ता तथा न्यारे-न्यारे करण और नाना प्रकार की न्यारी-न्यारी चेष्टा, वैसे ही पांचवां हेतु दैव कहा गया है किन्तु साधारणतया क्रिया के तीन ही माध्यम हैं-शरीर, वाणी तथा मन। पूर्णत्व के अभिलाषी मानव को तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग के द्वारा शरीर, वाणी तथा मन का शोधन कर, जीवन के अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर, त्रिविध तापों से मुक्त हो सदा के लिए कृतकृत्य हो जाना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तिका में क्रिया योग के आधार पर साधकों की सहायतार्थ कुछ विचार दिये गए हैं तथा सूक्ष्म सरल शब्दों में साधन की प्रक्रिया का भी बोध कराया गया है। इसमें प्रथम छः अंगों के द्वारा योग-साधन की सुगमता के विषय में बतलाया गया है जिससे सामान्य साधक भी सफलता की ओर आगे बढ़ सके, तथा उसके साथ-साथ हठयोग, राजयोग, लययोग के भेदों पर भी अनुभवयुक्त विचार दिया गया है। नामानुसन्धान का प्रकरण विशेष रूप से बतलाया गया है। साथ-साथ उसकी सुगम सहायक क्रियाओं का भी संकेत किया गया है जिससे साधक साधन में आई हुई कठिनाइयों को सरलता के साथ दूर कर सफलता को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो सके।

यद्यपि यह दिव्य योग की प्रक्रिया कुछ वर्ष पहले जबकि गुरुकृपा-प्रसाद से हठयोग तथा राजयोग के कठोर साधन की परिसमाप्ति हुई थी, अनुभव के आधार पर लिखी गई थी किन्तु इसे बाजारू सौदा न बनाने की भावना से प्रकाशित नहीं किया गया और लेखक की सदैव यही भावना थी कि साधन के विशेष अभिलाषी साधकों को ही इस रहस्य का बोध कराया जाए। क्योंकि अधिकतर साधक व्यक्तिगत विचार विमर्श के द्वारा इससे लाभान्वित नहीं हो सकते थे इसलिए कुछ मित्रों के विशेष आग्रह से इसको प्रकाशित करने की अनुमति दे दी गई। विश्वास है कि परमार्थ पथ के पथिक इससे साधन में कुछ सहायता प्राप्त कर सुगमता के साथ लक्ष्य की पूर्ति में सफल होंगे।

आपका अपना-
विश्वात्मा बावरा

दो शब्द

इस पुस्तक में विश्वात्मा बावराजी ने स्वल्प प्रयास से सर्व–सुलभ निज–अनुभूत योग–साधन बताया है, जिस पर आचरण कर हर एक साधक किसी भी वर्णाश्रम का पालन करते हुए योगी पद को प्राप्त कर सकता है। इसमें उन्होंने अष्टाग योग की एक नवीन पद्धति से व्याख्या की है जो कि सर्व–साध्य है। सब शास्त्रों वा सम्प्रदायों में नाम का बड़ा महत्व दिया है लेकिन इसकी प्रक्रिया अनेक रीति से बताई गई है। भक्ति मार्ग में इसकी बहुत विशेषता है। कई एक महानुभावों ने नाम के बारे में विशिष्ट प्रक्रिया अपने–अपने सिद्धांतानुसार बताई है। इसके अनुशीलन से नाम द्वारा भगवत् प्राप्ति अवश्य हो सकती है। परन्तु योग में नामानुसन्धान की प्रक्रिया बहुत कम पुरुषों ने गुंथित की है। इस पुस्तक में योगीराज बावराजी ने नामानुसन्धान द्वारा समाधि तक पहुचने की प्रक्रिया लिखी है, साथ ही सहायक रूप से अत्यन्त सरल ढंग से लिखित हठयोग वा राजयोग आदि की प्रक्रिया का समावेश कर दिया है जिससे साधक को साधन में बहुत सहायता मिलेगी। मुझे आशा है कि इस लोकोपयोगी पुस्तक के छपने से साधकगण निज आत्मोन्नति कर अपनी नित्य चाह को पूर्ण कर सकेंगे।

ब्र0 श्रीबालकृष्णलाल षड् दर्शनाचार्य

महन्त श्रीभेंट द्वारिका

प्रकाशकीय

'दिव्य–योग–पथ' के प्रकाशन का यह पंचम पुष्प पाठकों को समर्पित करते हुए हर्ष अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत 'योग–पथ' में पूज्य श्री विश्वात्मा बावरा जी महाराज द्वारा की गई 'योग' की व्याख्या नितान्त मौलिक तथा व्यापक है। निज अनुभवों के आधार पर योग शब्द के प्रचलित अर्थ से ऊपर उठकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि योग के सिद्धान्त साधक की दैनिक चर्या के आधार हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण प्रस्तुत पुस्तंक में दिये साधन–क्रम पर गम्भीरता से मनन एवं आचरण करते हुए अपने इष्ट–मित्रों को भी लाभान्वित होने के लिए प्रेरित करेंगे।

स्वर्गीय लालसिंह शक्तावत बीए.एल.एल.बी.
अध्यक्ष श्रीगीता–रामायण सेवा संघ
उदयपुर (राजस्थान)
भूतपूर्व सदस्य रेवेन्यु बोर्ड (राज0)

सम्पादकीय

'योग–पथ' अपने पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। परम पूज्य गुरुदेव अनन्त श्रीविभूषित ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावंरा जी महाराज न केवल भारत अपितु अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के लिए एक अनुपम दैवी देन थे जिनके ज्ञान–विज्ञानयुक्त, तर्कसम्मत अनुभूत ज्ञान, ऋषि प्रसूत प्रतिभा एवं नितान्त मौलिक विचारधारा के समक्ष आज विश्व का प्रत्येक मानव नतमस्तक है। वेदान्त, सांख्य एवं योग आपके प्रिय विषय थे, परन्तु योग के आप न केवल प्रकाण्ड विद्वान् ही अपितु योग आपका जीवन था जिसे आपने जीया।

आज के पथ–भ्रष्ट, दिग्भ्रान्त मानव के लिए जिस सुन्दर जीवन जीने की कला का निर्देश आपने प्रस्तुत लघु पुस्तिका में किया है, उसका अनुगमन कर प्रत्येक मानव अनेक प्रकार की आधि–व्याधियों एवं समस्याओं से मुक्त हो चिरस्थाई शान्ति का भाजन बन सकता है। आपके अनुसार 'योग' केवल आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि की क्रियाओं की कला ही नहीं बल्कि यह तो सम्पूर्ण जीवन जीने की प्रक्रिया है। 'योग' आध्यात्मिक उन्नति की ही चर्चा नहीं करता अपितु भौतिक जीवन को किस ढंग से उत्तम बनाया जाए, इसे कैसे परिष्कृत किया जाए या सुख से कैसे जीया जाए, यह सम्पूर्ण व्यवस्था देता है क्योंकि क्रियात्मक जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था योग में है।

परम पूज्य गुरुदेव के अनुभूत ज्ञान की यह लघु पुस्तिका 'योग–पथ' हमारे प्रकाशन विभाग में कुछ वर्षों से समाप्त हो चुकी थी। पाठकों की निरन्तर मांग को देखते हुएं इसका छटा संस्करण हम प्रकाशित कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि साधको के लिएं यह सम्बल तथा जिज्ञासुओं के लिए बोधप्रद सिद्ध होगी। सभी के प्रति मंगल कामना तथा श्रीचरणों में कोटिश: नमन के साथ –

ब्रह्मऋता परिव्राजिका,
प्रचारिक –इंटरनेशनल ब्रह्मर्षि मिशन
विराट नगर, पिजौंर (हरियाणा)

कार्तिक पूर्णिमा
8 नवम्बर 2003

ॐ

योग–पथ

विषय–प्रवेश तथा दर्शन

मेरे प्रिय मित्रो!

ज़रा ठहरो, थोड़ा विश्राम तो लो, क्यों दौड़ रहे हो? कहाँ जा रहे हो? किससे भयभीत हो? किसलिए चिन्तित हो? ज़रा बताओ तो सही। इस देव–दुर्लभ दिव्य मानव–देह को प्राप्त करके भी क्या आप जीवन से निराश हैं? यदि हैं, तो इसका कारण क्या है? क्या प्रतिपल अभाव की प्रतीति? तो, अपनी चाह न होते हुए भी इस जीवन में अभाव का भाव क्यों है? क्या आप इसका रहस्य नहीं जान पा रहे हैं? क्या इसको जानने की जिज्ञासा ने ही आपको व्यथित कर रखा है? तो आइये, सुनिए मेरे प्यारो! मै। आपको सरल, सुगम तथा सरस शब्दों में इस रहस्य का परिचय करा दूँ।

थोड़ा विश्राम ले लीजिए। भय और चिन्ता का परित्याग कर, सावधान हो, शान्त चित्त से सुनिए। अनेक जन्मों के कलुषित संस्कार क्षण मात्र में ही समाप्त हो जाते हैं। कब? जब जीवन में विवेक का उदय होता है, तब। हां, तो सुनिए विचित्र गाथा अपने इस नन्हें से जीवन की जिसमें नित्यप्रति नयी–नयी समस्याएं उत्पन्न हो आपको व्यथित किया करती हैं। क्या आप जानते हैं, उनकी जननी कौन है? प्यारे! इन समस्त समस्याओं के मूल में एक ही समस्या है, केवल जीवन में जीवन के रहस्य को जान लेने की। जब तक इसका समाधान नहीं होता, तब तक अन्य समस्याओं को

सुलझाना कठिन ही नहीं अपितु सर्वथा असम्भव है क्योंकि कारण के होते हुए कार्य का पूर्ण अभाव नहीं हो सकता। वह क्या है जिसकी पूर्ति के लिए हम रात–दिन अशान्त हो, आकाश–पाताल एक कर रहे हैं, बिना विश्राम प्रतिपल अनवरत गति से चले जा रहे हैं? आखिर पहुँचना कहाँ है? विश्राम कब और कहां प्राप्त होगा? क्या कभी पल–भर भी इस पर विचार किया? हाय! कितने आश्चर्य की बात है! बिना लक्ष्य, बिना मार्ग, बिना विश्राम लिये इस ऊबड़–खाबड़, कंटकाकीर्ण विकट पथ से गिरते, उठते, भागते हुए जीवन का अन्त कहां होगा, इसका विचार किए बिना ही अभागा मानव अशान्त तथा अधीर हो, इतनी द्रुत गति से भागा जा रहा है।

मेरे प्यारे! जरा गहराई से विचार तो करो, यह भय तथा चिन्ता से उत्पन्न हुई अशान्ति क्या आपको प्रिय है? यदि नहीं तो आप निश्चय जानिये, यह किसी भी काल में आपकी नित्य संगिनी नहीं है अथवा इसका कारण आप स्वयं नहीं हैं। यह अवश्य ही किसी विजातीय तत्त्व के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है जिसको कि आपने भूल से अपने को उसमें तथा उसको अपने में स्थान दे रखा है। जिससे किसी भी देश, काल, परिस्थिति में भिन्नता वा अरुचि हो सके, वह कभी भी अपना गुण, स्वभाव व स्वरूप नहीं हो सकता अथवा उसका अपने साथ सजातीय सम्बन्ध नहीं है। जो अपना गुण, स्वभाव, स्वरूप नहीं है, उसे अवश्य ही दूर किया जा सकता है क्योंकि विजातीय तत्त्वों में कभी भी एकता नहीं हो सकती; केवल भ्रमवश एकता का भान होता है जो कि विवेक के प्रकाश में वैसे ही दूर हो जाता है जैसे सूर्य के उदय हो जाने पर घोर अन्धकार। प्यारे! विवेक ही समस्त दुःखों के विनाश का साधन है। वह कहीं से प्राप्त नहीं किया जाता क्योंकि प्राप्त होने वाले पदार्थ अस्थायी व अनित्य होते हैं और अनित्य के द्वारा कभी भी नित्यत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। विवेक तो आत्मा का स्वाभाविक प्रकाश है और प्रकाश तथा प्रकाशक का सदैव अभिन्न

सम्बन्ध होता है। जीवन में प्रकृति के संसर्ग से गुणात्मक पदार्थों में अहंता की स्वीकृति होने के कारण ही इस अनर्थकारी अविवेक की स्थिति है, वस्तुतः इसका जीवन में कोई स्थान नहीं। इसी की महिमा से अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःखप्रद में सुखप्रद तथा अनात्मा में आत्मा की ख्याति का उदय होता है। इसी को कहते हैं दुःख तथा अशान्ति की जननी अविद्या।

प्यारे! जगदीश के प्रकाश में ही जीव की स्थिति है और उसके दिव्य गुणों की भी सदैव, सर्वत्र, एकरस विद्यमानता है। अतः किसी भी देश, काल वा परिस्थिति में उसकी उपलब्धि हो सकती है, इसमें संशय नहीं। आवश्यकता है केवल उसकी अनिवार्य आवश्यकता के अनुभव की क्योंकि जब तक मानव किसी की अनिवार्यता का अनुभव नहीं करता तब तक उसे प्राप्त करने की पूर्ण निष्ठा युक्त प्रवृत्ति में सफलता का स्थान नहीं। अतः दुःखपूर्ण अशान्त जीवन से मुक्त होने के लिए मानव को निष्ठापूर्ण पुरुषार्थ द्वारा उस दिव्यज्ञान को अभिव्यक्त करना चाहिए जो कि अनन्त के विधान से उसके अन्तर्तम में अव्यक्त रूप से स्थित है। इसे ही आत्म ज्ञान, स्वरूप बोध तथा ब्रह्म साक्षात्कार आदि नामों से कहते हैं।

प्यारे! जैसे स्वप्न में किए हुए मातृ, पितृ, विप्र वध आदि का महान् अघ, ओघ तथा उससे उत्पन्न हुए महान् दुःखप्रद भय आदि जागृत अवस्था में आते ही सर्वथा मिथ्या तथा कल्पित भ्रम के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाते ठीक उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञान के उदय होते ही सुख–दुःखमय अनन्त जन्मों के संस्कार समूह क्षण मात्र में ही समाप्त हो जाते हैं।

प्यारे! प्रभु के प्रकाश में जीवन का पूर्ण विकास कर, उस तक पहुंचना ही जीव का परम कर्तव्य है किन्तु अविवेकी इसे जान नहीं पाते। विवेकहीन मानव तो सामान्य क्रियाओं को भी उचित ढंग से पूर्ण नहीं कर पाता तो फिर उसे दिव्य जीवन की प्राप्ति भला संभव कैसे? विशुद्ध विज्ञान

की अग्नि तो सदैव अन्तरात्मा में स्थित है किन्तु जब तक उसे संयमरूपी वायु का संयोग प्राप्त नहीं होता तब तक वह प्रज्वलित नहीं होने की। संयमित जीवन में विवेक का उदय स्वतः ही हो जाता है।

प्यारे! परिवर्तनशील त्रिगुणात्मक जगत् की सार रहित रमणीयता को देखकर भोगरत मानव का झुकाव स्वय ही उसकी ओर हो जाता है और उसी से वह अनेकों प्रकार के दुःखों से पीड़ित, व्यथित तथा अशान्त रहता है; यद्यपि यह अशान्ति उसे किसी भी देश, काल व परिस्थिति में प्रिय नहीं। अतः उससे मुक्त होने के लिए ही वह निशदिन नाना प्रकार की क्रियाओं में व्यस्त रहता है; छूटने के लिए जो साधन करता है, उससे और भी अधिक उलझता ही जाता है क्योंकि त्रुटिपूर्ण निदान, रोग का निवारण न करके उसकी सतत वृद्धि का ही कारण बन जाता है।

प्यारे! मोह से भ्रमित हो अशान्त चित्त तथा किंकर्तव्य विमूढ़ावस्था को प्राप्त हुए शान्तिप्रद पथ की जिज्ञासा से युक्त अर्जुन की स्थिति ही मानव की अवस्था है और उसके लिए यह सुगम, सरस तथा सरल शब्दों में दिव्य योग–पथ का सुन्दर सन्देश है। मानव को चाहिए कि भूतकाल के आधार पर भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए वर्तमान में विचार करे अर्थात् अतीत में जिन–जिन क्रियाओं का आश्रय लिया गया है, क्या उनसे जीवन में दिव्यता की ओर प्रगति हुई? क्या अब भी उनके द्वारा अपनी आन्तरिक अभिलाषा पूर्ण हो जाने की आशा है? इसी तरह और भी अनेकों प्रश्न उनकी पूर्ति के लिए मानव को अपने से ही करने चाहिए जिनको कि पूर्ण किए बिना वह चैन से नहीं रह सकता और इस विषय में जब अपने से निराश हो, तब उसे किसी सद्‌गुरु की शरण लेनी चाहिए। सद्‌गुरु वे हैं जो पद और पदार्थ की चाह से रहित हो, जिज्ञासु को जीवन की जानकारी के लिए उचित मार्गदर्शन करें।

प्यारे! जगद्‌गुरु जगदीश्वर का दिव्य सन्देश ही सभी जीवों के

लिए उचित एवं उपयोगी है, चाहे वे बुभुक्षु हों वा मुमुक्षु। अविद्या के साम्राज्य में अज्ञानवश जीव से जो भी अच्छे–बुरे कर्म अतीत में संस्कारवश हुए हैं, उनके लिए चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं। कारण कि विश्व के इतिहास में जितने पुण्य पुरुषों की जीवन गाथाएँ हमारे सामने हैं, इनमें से कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसके अतीत को हम परम विशुद्ध कह सकें। किन्तु सभी अपने वर्तमान के पुरुषार्थ से ही विवेक को उदय कर महानता को प्राप्त हुए।

प्यारे ! मानव जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान नहीं । प्रेम से सुनो, यह प्रभु का सन्देश है –

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।

(गीता ४/३५,३६)

मेरे प्रिय अर्जुन! यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाले हो, तो भी जीवन से निराश नहीं होना चाहिए। ज्ञानरूपी नौका के द्वारा निःसंदेह तुम सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार पार कर जाओगे। यदि तुम्हें यह सन्देह हो कि किए हुए कर्म अवश्य ही भोगने पड़ेंगे तो यह उचित नहीं, कारण कि –

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।

(गीता ४/३७)

जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि सम्पूर्ण ईंधन के ढेर को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार से यह ज्ञानरूपी अग्नि समस्त शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर देगी। इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला और कोई भी साधन नहीं है। उस ज्ञान को स्वयं योग द्वारा उत्तम रीति से सिद्ध हुआ मनुष्य अपने–आप में ही प्राप्त कर लेता है।

प्यारे! यहाँ यह प्रश्न अवश्य होगा कि उस महिमामय विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति स्वयं में कैसे हो जाएगी? अतः उसको प्राप्त करने के लिए दिव्य योग पथ की प्रक्रिया भी अच्छी प्रकार से जानो। श्रद्धालु और तत्पर पुरुष ही इन्द्रिय संयम करके ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर शीघ्र ही उसे परम शान्तिरूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है जो कि प्रत्येक के जीवन की आन्तरिक मांग है। यदि मानव अक्षय शान्ति के आधारस्वरूप इस दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए श्रद्धादि साधनों को नहीं अपनाता और इसके विपरीत आचरण करता है तो निश्चय जानो–जिसे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं है और श्रद्धा भी नहीं है तथा जो संशयग्रस्त मनुष्य है, उसका नाश अवश्य होगा। संशयग्रस्त मानव के लिए न तो यह लोक है न परलोक ही और न ही उसे किसी प्रकार का सुख ही प्राप्त हो सकता है। अतः योग के द्वारा अपने सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके तथा ज्ञान के द्वारा समस्त संशयों का छेदन कर जो आत्म–बल से युक्त है, उसको किसी भी प्रकार के कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते। हे भारतीय वीर! तुम भी अज्ञान से उत्पन्न होने वाले हृदय के समस्त संशयों को दिव्य ज्ञानरूपी शस्त्र से छेदन कर तथा कर्मयोग का आचरण करते हुए प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करने के लिए दृढ़ता के साथ उठ खड़ा हो जा।

प्यारे ! उक्त ईश्वरीय दिव्य सन्देश प्रत्येक मानव के लिए मननीय एवं अनुकरणीय है। प्रभु के दिए हुए आश्वासन तथा बताए हुए दिव्य योग पथ पर चलकर मानव निःसंदेह अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माणरूप जीवन के लक्ष्य को पूर्ण कर कृतकृत्य हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं। आवश्यकता है श्रद्धा और विश्वासयुक्त हो विचार के प्रकाश में अग्रसर होने की।

विवेकशील मानव ही सदैव शान्ति का भाजन होता है, अविवेकी

नहीं। विवेक के अभाव में तो मानव का सामान्य जीवन भी सुन्दर नहीं होता तथा समाज में भी उसके लिए कोई स्थान नहीं मिलता तो परलोक व परमशान्ति की बात ही कहाँ!

प्यारे ! जैसे भोजन पकाने की सभी सामग्री पास होते हुए भी पकाने की कला का ज्ञान न होने पर व्यक्ति भूखा रह जाता है और यदि पकाने की क्रिया बिना किसी कुशल रसोइये से समझे, केवल पाक शास्त्र पढ़ वा सुनकर पकाने में प्रवृत्त होता है तो अधपके व अधिकपके भोजन को खाकर नाना प्रकार के रोगों का शिकार हो जाता है, ठीक इसी प्रकार विवेक को प्राप्त करने की समस्त सामग्री मानव के पास होते हुए भी वह उसकी अभिव्यक्ति की कला से अनभिज्ञ होने के कारण अशान्त तथा परतन्त्रता को अनुभव करता हुआ सतत व्यथित तथा चिन्तित होता रहता है। पढ़ व सुनकर कुछ लोग यदि विवेक प्राप्ति के साधनरूप योग मार्ग में प्रवृत्त भी होते हैं तो उचित मार्गदर्शक के अभाव मे वे मार्ग में ही अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म व्याधियों के शिकार होकर दु:ख तथा अशान्ति को प्राप्त होते हैं अतः प्रभु का सन्देश है कि श्रद्धा तथा विश्वास से युक्त हो दण्डवत् प्रणाम कर सद्भावना के साथ सद्गुरु की शरण हो उनकी सेवा करके उनसे तत्त्व–ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिज्ञासा प्रकट करो। वे तत्त्वदर्शी विवेकशील महात्मा तुम्हें उस विशुद्ध ज्ञान का उपदेश करेंगे जिसको जानकर पुनः तू इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा और जिससे समस्त भूतों को अपने में तथा अपने को उन सभी में देख सकेगा।

प्यारे! सर्वात्म–दृष्टि को प्राप्त कराने वाला यह अनुपम विज्ञान जिस साधन से प्राप्त होता है, उसमें श्रद्धा, तत्परता तथा इन्द्रिय–संयम का प्रमुख स्थान है। सर्वप्रथम शास्त्र तथा आचार्य के शब्दों में दृढ़ श्रद्धा तथा विश्वास का होना अति आवश्यक है। श्रद्धा–विश्वास के बिना कोई भी मानव

आत्म ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी का मत है –

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्।।

अर्थात् सिद्धजन भी निज अन्तः स्थित आत्म–स्वरूप परमेश्वर को श्रद्धा–विश्वास के बिना नहीं देख पाते। इससे यह निश्चय होता है कि सामान्य साधक के जीवन में श्रद्धा का कितना अधिक महत्त्व है।

श्रद्धा, गुरु तथा शास्त्र के शब्दों में प्रत्यक्षवत् दृढ़ निष्ठा का होना है। श्रद्धारहित किसी भी धर्म–कर्म का कुछ भी मूल्य नहीं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।

(गीता १७/२८)

क्योंकि समस्त धार्मिक कृत्यों का आधार श्रद्धा ही है। योग दर्शन में अच्छे साधक के लक्षण का वर्णन करते हुए महर्षि पतञ्जलि का कथन है– **श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्** – अर्थात् किसी भी साधन में सफलता प्राप्त करने का मूल कारण श्रद्धा ही है। श्रद्धा के द्वारा ही साधक में क्रमशः साहस, स्मृति तथा समाधि–प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। अतः साधक में श्रद्धा का होना अनिवार्य है। अन्य कोई भी साधन न होने पर केवल श्रद्धा के द्वारा मानव अपना कल्याण कर सकता है। भगवान् का सन्देश है –

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।

(गीता १८/७१)

अर्थात् जो श्रद्धावान् मानव द्वेष दृष्टि से रहित हो धर्मसंवाद का श्रवण करता है, वह समस्त दूषित कर्मों से मुक्त हो पुण्य आत्माओं को प्राप्त होने वाले दिव्य लोक को प्राप्त करता है। अधिक क्या, श्रद्धा ही साधक का

स्वरूप है! भगवद् वाक्य है–

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

(गीता १७/३)

'यह पुरुष श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही वह है।' अस्तु! श्रद्धाहीन साधन से श्रम तथा अहंकार के सिवाय अन्य कोई लाभ नहीं।

श्रद्धा के पश्चात् दूसरा स्थान तत्परता का है। तत्परता की परिभाषा है पूर्ण रुचि के साथ साधन में प्रवृत्ति। योग दर्शन में तत्परता की बहुत महिमा है। महर्षि पतंजलि का मत है– **'तीव्रसंवेगानामसान्नः'** अर्थात् जिनके साधन की गति तीव्रतम है, जो साधन से कभी ऊबते नहीं, सदैव पूर्ण रुचि से उसमें संलग्न रहते हैं, वे शीघ्र ही निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेते हैं। निर्बीज समाधि के द्वारा ही वह दिव्य आत्म–ज्ञान प्राप्त होता है जिसकी महिमा का ऊपर वर्णन किया गया है। तत्परता का सरल अर्थ है इष्ट प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा से युक्त हो आचार्य निर्दिष्ट मार्ग पर दृढ़ता तथा उत्साह के साथ अग्रसर होना। यह सर्वमान्य सत्य है कि जब तक मन में किसी भी प्रकार की कामना रहती है तब तक जीवन के लक्ष्य की ओर साधक की पूर्ण रूप से प्रगति नहीं हो पाती। इसके लिए श्रीरामचरितमानस का सन्देश है –

मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लव लागी।।

लक्ष्य की प्राप्ति के अभाव में साधक अपने जीवन को भारवत् प्रतीत करता है क्योंकि वह जीवन की सफलता ही इसी में मानता है कि –

राम चरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं।।

श्रीमानस के प्रमुख साधक स्वायंभू मनु के साधन का वर्णन करते हुए उनकी तत्परता के विषय में गोस्वामीजी कहते हैं –

उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।।

उनकी श्रद्धा तथा निष्ठा का भी साथ–साथ वर्णन करते हुए कहा है–

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी।।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा।।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई।।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।।

(रा० १/१४४-४-८)

अनादि, अनन्त, गुणातीत जो परमतत्त्व है, परमार्थवादी जिसका चिन्तन करते हैं, वेद नेति-नेति कह-कह कर जिसका निरूपण करते हैं, जो सर्वोपाधि रहित निजानन्द, अनुपम परमतत्त्व है, अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिसके अंश से उत्पन्न होते हैं, वह प्रभु भी निज जनहिताय दिव्य लीलामय स्वरूप धारण करते हैं। यदि यह श्रुतिवाक्य सत्य है तो हमारी भी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी। इस तत्परता में वे स्वयं को भी भूल जाते हैं और-

अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा।।

उनका शरीर केवल अस्थि-मात्र रह जाता है फिर भी लक्ष्य पूर्ति रत होने से किंचित मात्र भी मन में व्यथा नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भक्त हितकारी प्रभु प्रकट हो गए-

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना।।

अस्तु, तत्परता ही साधन में सफलता की कुंजी है क्योंकि तत्परता रहित श्रद्धा पंगु कही जाती है। प्यारे ! श्रद्धा, तत्परता के साथ तीसरा स्थान इन्द्रिय संयम का है। इन्द्रिय संयम का अभिप्राय है उचित मात्रा में इन्द्रियों को उनका आहार देते हुए उन्हें उचित कार्य में लगाना या उनसे उचित काम लेना। भारतीय वैदिक साधन पद्धति में इन्द्रिय संयम पर बहुत बल दिया गया है क्योंकि समस्त अशान्ति वा अनर्थों की मूल इन्द्रियां ही हैं। मानव को पथ भ्रष्ट कर नाना प्रकार के दुःखों का भाजन बनाने का श्रेय इन्हीं को है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।

(गीता ५/२२)

अर्थात् इन्द्रिय तथा उनके विषयों से होने वाले संसर्ग में आदि–अन्तवाली भोग वृत्ति है, वही समस्त दुःखों की जननी है, विवेकी लोग ऐसा जानकर उसमें रमण नहीं करते। कारण कि इन्द्रियाँ तथा उनके विषय में अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के आधार पर राग–द्वेष होना अनिवार्य है। साधक को चाहिए कि इन दोनों के वश में न होकर अपने कल्याण पथ पर सावधानी के साथ आगे बढ़े क्योंकि ये दोनों ही (राग, द्वेष) कल्याण के मार्ग में महान् शत्रु हैं। कल्याण का भाजन वही साधक हो सकता है जिसका मन बाह्य पदार्थों से आकृष्ट हो इन्द्रियों को साथ ले उनको प्राप्त करने के लिए व्यथित नहीं करता। प्रभु का सन्देश है कि जीती हुई हैं इन्द्रियां, मन और बुद्धि जिसकी तथा जो मननशील साधक इच्छा, भय, काम, क्रोध आदि से रहित है, वही मोक्ष परायण कल्याण पद को प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

अस्तु, कोई भी साधक इन्द्रिय–संयम के बिना किसी भी प्रकार के साधन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। जीवन में विनाशकारी तत्त्व इन्द्रिय स्वातन्त्रय ही बताया गया है। उपनिषदों में भी इन्द्रिय निग्रह की परमावश्यकता बताई गई है। कठोपनिषद् में इस विषय को एक रथ का रूपक देते हुए कहा गया है कि –

आत्मानँ रथिनं विद्धि शरीरँ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

(कठ० १/३–३–४)

अर्थात् जीवात्मा को रथ का स्वामी तथा शरीर को ही रथ समझो, बुद्धि को सारथि और मन को ही लगाम जानो। ज्ञानीजन इस शरीररूपी रथ में इन्द्रियों को ही घोड़े बताते हैं और विषयों को उन घोड़ों के विचरने का मार्ग। शरीर, इन्द्रिय, मन तथा इनके साथ रहने वाला जीवात्मा ही भोक्ता है, ऐसा विवेकीजन कहते हैं। उसी जगह आगे के दो मन्त्रों में यह बात विशेष रूप से समझाई गई है कि जैसे रथ को घोड़े ही चलाते हैं किन्तु उन्हें उचित मार्ग पर ले जाने का काम लगाम को हाथ में लिये हुए कुशल सारथि का ही होता है। यदि सारथि कुशल नहीं है तो कभी भी वह बलवान् घोड़ों को स्ववश नहीं रख सकता और निर्बल सारथि के वश में न होने से घोड़े स्वच्छन्द मार्ग पर चलते हुए हरी–हरी घास को देख उचित मार्ग को छोड़कर रथी तथा सारथि सहित रथ को लेकर किसी गड्ढे में गिरा देंगे, इसमें सन्देह नहीं। ठीक इसी प्रकार इन्द्रियरूपी बलवान्, दुर्धर्ष घोड़े स्वाभाविक ही आपात रमणीय विषयों से भरे हुए संसाररूपी हरी घास के जंगल की ओर स्वच्छन्दता से दौड़ना चाहते हैं। यदि सद्बुद्धिरूपी कुशल सारथि मन रूपी लगाम को जोरों से खींचकर अपने वश में कर लेता है तो फिर इन्द्रियरूपी घोड़े मन रूपी लगाम को स्ववश कर स्वच्छन्दता से कहीं भी नहीं जा सकते। वे बुद्धि के अनुशासन में ही रहेंगे। जैसे घोड़े लगाम के इशारे पर ही चलते हैं, ठीक उसी प्रकार इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण तभी कर सकती हैं जबकि मन उनके साथ हो।

प्यारे! इस वैदिक सन्देश में भी कल्याणप्रिय मानव के लिए इन्द्रिय संयम की कितनी आवश्यकता है, इस बात को साधक स्वयं समझ गए होंगे। श्रीपतंजलि के मत से तो अष्टांगयोग में सर्वप्रथम इन्द्रिय संयमरूपी यम तथा नियम का ही स्थान है। बिना यम–नियम का पालन किए कोई भी साधक साधन में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता

इसलिए इन्द्रिय संयम को महाव्रत में स्थान दिया है।

प्यारे ! इन्द्रियो में भी महानता मन की है। मन के संयमित हो जाने से सभी इन्द्रियाँ संयमित हो जाती हैं। सभी शास्त्रों तथा आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट साधनों का पर्यवसान मनोसंयम में ही होता है। श्रीगीता का सन्देश है कि असंयमित स्वच्छन्द मन ही मानव का शत्रु तथा जीता हुआ संयमित मन ही मानव का मित्र है। अतः साधक को इन्द्रिय–संयम के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि आत्मज्ञान की प्राप्ति में उसका प्रमुख स्थान है।

प्यारे! उक्त विवरण से यह बात समझ में आ गई होगी कि श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रिय सयंम के द्वारा किये गए साधन से ही उस दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है जिससे साधक जन्म–जन्मान्तरों से होने वाले त्रितापों से सदा के लिए छुटकारा पा जाता है।

प्यारे! सत्य के अभिलाषी साधकों के लिए शास्त्रों में अनेकों प्रकार के साधनों का निर्देश किया गया है। उनमें से ही अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार साधन साधक को चुन लेना चाहिए। यहां पर तो केवल दैनिक नियम तथा साधन में प्रवृत्त होने वाले जिज्ञासुओं के लिए कुछ उपाय ही बतलाना चाहता हूँ जिससे कि जीवन से निराश तथा त्रितापों से तपा हुआ मानव वर्तमान में ही शान्ति का अनुभव कर सके।

❊✧❊★❊

✧❊★❊

❊✧❊

❊★

✧

शरीर–शुद्धि

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

प्यारे! साधक के लिए शरीर को स्वस्थ रखना परम आवश्यक है क्योंकि सर्वविध सिद्धिप्रद साधन का आधार शरीर ही है। स्वस्थ शरीर में ही दृढ़ संकल्प तथा स्वस्थ बुद्धि का विकास होता है। किसी मोटे–ताज़े शरीर को ही स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। शरीर की स्वस्थता का प्रमाण उसकी सुगठित दृढ़ता तथा पुष्टता से है। अधिक मोटापन तो भद्दे तथा सदोष शरीर का ही परिचायक होता है।

प्यारे ! शास्त्रों में जितने व्रत–नियम आदि का विधान किया गया है, उन सबका अभिप्राय आरोग्यता तथा शारीरिक शुद्धि से ही समझना चाहिए। बिल्कुल निराहार रहकर शरीर को सुखा देने वाले व्रत उपवास का स्थान साधक के जीवन में नहीं है। गीता में उसे आसुरी तप कहा गया है। साधक को चाहिए कि वह मध्य मार्ग का ही अनुकरण करे अर्थात् उपयुक्त आहार–विहार के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हुए स्वस्थ बुद्धि का विकास कर उसके प्रकाश में सत्य का अन्वेषण करे।

प्यारे! जो साधक वर्तमान जीवन में ही पूर्णत्व को प्राप्त करने की अभिलाषा रखता हो, उसे जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए! भोजन, शयन तथा जीविकोपार्जन आदि में उचित समय देते हुए शेष समय गुरुनिर्दिष्ट विधि से सुमिरन तथा आत्मचिन्तन में ही संलग्न रहना चाहिए। प्रारम्भ काल में साधक के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना परम आवश्यक है –

1. नित्य प्रति 6 घण्टे से कम या अधिक शयन करना।

2. प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में 4 बजे उठ जाना।

3. इष्ट का चिन्तन करते हुए पृथ्वी को प्रणाम करना, शीतल(बासी) जल से आँख-मुंह धोकर लगभग 1 सेर जल पीना।

4. शौचादि से निवृत्त हो कुछ यौगिक व्यायाम करना।

5. किसी निश्चित आसन से बैठकर प्राणायाम के साथ धारणा तथा ध्यान का अभ्यास करना।

6. उचित समय पर भूख से कुछ कम, शुद्ध, सादा तथा सात्त्विक भोजन करना। भोजन में अधिक नमक, मिर्च, अधिक गरम, खट्टा, मीठा,रसहीन, गरिष्ठ तथा अभक्ष्य पदार्थ न लेना।

7. शरीर को कोमल तथा स्वस्थ रखने के लिए सदैव सूती तथा आवश्यकतानुसार ऊनी वस्त्र धारण करना।

8. कृत्रिम-सौन्दर्यप्रद उपकरणों का परित्याग कर सदैव सादा जीवन व्यतीत करना।

9. जीवनोपयोगी वस्तुओं का उचित मात्रा में ही उपयोग करना।

10 प्रकृति के पदार्थों को भोग का नहीं योग का साधन समझना।

11 सभी वस्तुओं तथा व्यक्तियों को ईश्वरीय शक्ति का कार्य समझ उनमें राग-द्वेष से रहित हो उचित व्यवहार करना।

12. अनुकूल परिस्थिति के द्वारा मिली हुई सुख-सुविधाओं से अनासक्त हो नित्य जीवन को प्राप्त करने के लिए सतत सद्धर्ममय मार्ग का अनुसरण करना।

13. समय को अमूल्य जान उसे एक क्षण भी व्यर्थ मनोरंजन में न खोना तथा कभी भी किसी से अनावश्यक वार्तालाप न कर सतत ईश्वर चिन्तन करना।

14. भोग-मय पदार्थों की प्राप्ति प्रारब्ध पर निश्चय कर योगमय साधनों

का अवलम्बन करना।

15 अपने दु:ख–सुख का कारण पूर्वकृत कर्मों को जान दोनों अवस्थाओं में ईश्वरीय कृपा का ही अनुभव करना।

16 आचार्य तथा ईश्वर में दृढ़ श्रद्धा तथा विश्वास रखना।

17 बन्धन के भ्रम को मिथ्या जान सदैव अपने में ईश्वरीय दिव्य गुणों का अनुभव करना।

18 अपने सहित समष्टि को ईश्वर का ही स्वरूप मानना।

19 किसी को भी तुच्छ न जान सभी का समादर करना।

20 सदा समष्टि भाव को धारण कर सर्वजन हिताय सत्कर्मों में ही प्रवृत्त होना।

21 अपनी साधन पद्धति में दृढ़ विश्वास रखते हुए अन्य पद्धतियों का भी समादर करना।

22 शयन से पूर्व तथा जागने के पश्चात् नित्य नियमित रूप से अध्यात्म चिन्तन तथा समाधि का अभ्यास करना।

23 विशुद्ध अन्त:करण में ही विशुद्ध भावों का उदय होता है और वही सद्विचारों के द्वारा सत्कर्मों में परिणत हो जाता है। अत: अन्त:करण को विशुद्ध करने वाले श्रीगीता, रामायण, उपनिषद् आदि सद्ग्रन्थों का नियमित रूप से स्वाध्याय करना परम आवश्यक है।

प्यारे! साधक को यह निश्चय करना चाहिए कि जीवन में क्रिया की अपेक्षा भाव की अधिक महिमा है। जिसकी जैसी भावना उसका वैसा रूप। भगवान् का सन्देश है –'**यच्छ्रद्धः स एव सः**'। साधक को सावधानी से साधन में प्रवृत्त होना चाहिए। जो साधन उसकी योग्यता तथा स्थिति में अनुकूल न हो, उसकी केवल महिमा सुनकर ही उसमें प्रवृत्त न हो जाये क्योंकि साधन कोई भी छोटा अथवा बड़ा नहीं होता। दृढ़ता के साथ किसी भी साधन का अवलम्बन करके अभीष्ट को प्राप्त किया जा सकता

है क्योंकि भगवत् प्राप्ति किसी क्रिया विशेष का फल नहीं अपितु वह भाव का फल है।

प्यारे! चेतन के प्रकाश से चित्त में उत्पन्न हुए एक नित्य, पूर्ण, दिव्य रस की चाह ही जीव का स्वरूप है। जब तक इस चाह की पूर्ति नही होती तब तक किसी भी प्रयत्न द्वारा चित्त को शान्त करना सम्भव नहीं। अतः इसकी पूर्ति के लिए परम चेतनस्वरूप परमात्मा से एकता अनिवार्य है। इसे ही योग कहते हैं।

प्यारे! यह चित्त चेतन के प्रकाश से विक्षुब्ध हुई अव्यक्त प्रकृति का प्रथम परिणाम है। उसमें चेतन के दिव्य गुण को ग्रहण करने की स्वाभाविक क्षमता है, इसी से चेतन के संसर्ग से उसमें चेतना की जागृति होती है क्योंकि चेतना का कारण वह परम चेतन है इसीलिए उसमें उसकी चाह होना अनिवार्य है किन्तु भ्रम–वश कारण की ओर अभिमुख न हो वह चित्त से उत्पन्न हुए अहंकार तथा उसके कार्य–विषय इन्द्रियात्मक जगत् की ओर ही प्रवृत्त होता है और उन्हीं के द्वारा वह सत्–चित्–आनन्द को प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होता है जो कि सर्वथा असम्भव है। सत्–चित्–आनन्द उस परम चेतन परमात्मा का स्वरूप है जिससे कि वह प्रकाशित हो रहा है। अस्तु, अपने कारण को प्राप्त करने के लिए ही स्वाभाविक रूप से प्रत्येक कार्य की प्रवृत्ति होती है। अतः कार्य–कारण की एकता को ही योग कहते हैं।

प्यारे! योग तो नित्य है ही किन्तु अविवेक के कारण ही वियोग की प्रतीति होती है। साधन के द्वारा जब विषयों से विमुख हो सत्य में प्रवृत्ति होती है, तब उस परम प्रकाशक के प्रकाश का अनुभव प्राप्त होने लगता है। जैसे–जैसे उसका बोध होता जाता है वैसे–वैसे उसमें अनुरक्ति भी बढ़ती जाती है और जैसे–जैसे उसमें अनुराग होता जाता है वैसे–वैसे ही उसमें एकता भी होती जाती है। पूर्ण ज्ञान से ही पूर्ण प्रेम और पूर्ण प्रेम से

ही एकत्व होता है जिसे योग कहते हैं। अस्तु! ज्ञान, प्रेम, योग, ये उसी प्रकार से एक साथ सिद्ध होते हैं जैसे भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ तुष्टि, पुष्टि तथा क्षुधा-निवृत्ति होती है। ज्ञान से तुष्टि, प्रेम से पुष्टि तथा योग से भेद का अभाव हो जाता है। यही जीव के जीवन का परम उद्देश्य है।

प्यारे! योग की सिद्धि में ज्ञान तथा प्रेम ही प्रमुख आधार हैं। अतः साधक को चाहिए कि प्रेमपूवर्क विवेकयुक्त साधन में प्रवृत्त हो। अब मैं यहां से अभ्यास की कुछ विधियों का क्रमिक रूप से निर्देश करूंगा। सर्वप्रथम शरीर-शुद्धि के लिए सूक्ष्म रूप से कुछ नियमित हठयोग की क्रियाओं का अवलम्बन लेना अत्यन्त आवश्यक है।

हठ योग

प्यारे! हं–बीज सूर्य नाड़ी (दाहिनी नासिका से आनेवाला श्वास) तथा ठं–बीज चन्द्र नाड़ी (बाईं नासिका से आनेवाला श्वास) से सम्बन्धित है। प्राणायाम के द्वारा सूर्य तथा चन्द्र दोनों नाड़ियों से चलने वाले प्राण के प्रवाह को सूक्ष्म तथा सम करके सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगति से ब्रह्माण्ड में स्थापित करना हठयोग का स्वरूप है। प्राण की गति को सूक्ष्म तथा सम करने के लिए आसन–प्राणायाम आदि की जो क्रियाएं हैं, उनको ही यौगिक अथवा हठयोग की क्रिया कहते हैं। इसमें चौरासी आसन, अष्ट विध प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध, नेती, धोती, बस्ती, त्राटक आदि षट्कर्म का विधान है। इनके द्वारा शरीर, वाणी तथा मन भी शुद्ध तथा सूक्ष्म होकर परमतत्त्व में युक्त होने के योग्य हो जाता है। यही हठयोग का प्रयोजन है।

हठयोगी के मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएं आती हैं। उनसे बचकर लक्ष्य तक पहुंचना बहुत ही कठिन हो जाता है। अधिकतर हठयोग के अभ्यासी बाह्य चमत्कार तथा सिद्धियों में ही आसक्त हो, लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं और अधिकांश लोग खान–पान आदि की सुव्यवस्था न होने से रोग के शिकार हो नष्ट हो जाते हैं। अस्तु! हठयोग से होने वाले वाले लाभ को अन्य उपायों से भी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। अतः यहां साधक के लिए साधन में उपयोगी कुछ सरल क्रियाओं का ही संकेत करना मैं उपयुक्त समझता हूं। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए व्यक्तिगत रूप से मिलकर समझ संकते हैं।

यौगिक प्रक्रिया

साधक को चाहिए कि वह उचित समय पर सो जाय। सोने के लिए अधिक आरामदायक आसन काम में नहीं लेना चाहिए। लकड़ी का तख्ता अधिक उपयोगी होता है। उसके ऊपर नरम बिछौना होना चाहिए। सोते समय अधिकतर बायें करवट से ही सोने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि दाहिनी नाड़ी से श्वास की गति चलने से जठराग्नि प्रज्वलित हो, खाये हुए अन्न को हजम कर स्वास्थ्यवर्धक हो। सोने से पूर्व हाथ–पाव–मुख धोकर अपने निश्चित आसन से बैठकर कुछ देर तक अभ्यास करना चाहिए। जब प्रगाढ़ निद्रा आने लगे तो शव आसन से सो जाएँ।

दोनों पांवों को फैलाकर शान्त भाव से चित्त को आज्ञाचक्र में स्थापित कर शव के समान शरीर ढीला करके सो जाना, शव आसन कहा जाता है।

सोते समय ताम्ब्र या मिट्टी के बर्तन में दो सेर जल भरकर उसे कपड़े से ढांपकर रख दें। प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त (3 से 5) में उठ जाएं, जागते ही आसन पर बैठकर प्रणव (ओंकार) का अनुस्वार के साथ उच्चारण करें और उसी के साथ अपने अन्दर ईश्वरीय दिव्य–शक्ति का अनुभव करते हुए कुछ समय ध्यान लगाकर परमेश्वर को प्रणाम करें, पश्चात् आसन से ही झुककर दाहिने हाथ से भूमि का र्स्पश कर प्रणाम करें और हाथ को ऊपर उठा दोनों हथेलियों का घर्षण कर आँख तथा मुख पर मलना चाहिए। बाद में आसन से नीचे उतरकर काष्ठ की खड़ाऊँ पहन लघुशंका कर, रक्खे हुए बासी जल से मुख को धो लेवें

और मुख में जल भरकर आँख पर जल से छींटें लगावें। इससे नेत्र दोष दूर होता है और आँख की रोशनी बढ़ती है। आँख–मुख धोकर लगभग एक सेर बासी ठण्डे जल को पी लेना चाहिए। पीया हुआ जल आमाशय से होता हुआ उसे साफ करते हुए मल–स्थान पर आ जाता है जिससे पेट की सफाई हो जाती है। शौच आदि से निवृत्त हो अब आपको उदर के ऊपरी भाग तथा गला वा नासिका को साफ करने के लिए नेती तथा कुंजल करना चाहिए।

नेति

विधि :– पहले आप लगभग तीन सेर थोड़ा गर्म जल ले लेवें, उसमें थोड़ा सा सेंधा नमक मिला लें जितना कि आप दाल में प्रयोग करते हैं। अब आप कागासन (पंजे के बल) से बैठ जाएँ। बबूल की या किसी अन्य कूँचे वाली दाँतुन को लेकर खूब नरम कूँच बना लेवें! उसे रखकर अब आप गरम पानी को लेकर जिस नासिका से स्वर चल रहा हो, उसके द्वारा अन्दर की तरफ धीरे–धीरे खींचकर दूसरी नासिका या मुख के रास्ते से भी धीरे–धीरे पानी को खींचकर बाहर निकालना है। यह जल नेती कही जाती है। इससे सिर की खुश्की तथा नेत्र की गर्मी दूर होती है और सिर हल्का हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सूत्र नेती तथा वस्त्र धौती क्रिया भी की जाती हैं किन्तु उसकी विशेष आवश्यकता नहीं है। यदि करने की रुचि हो तो योगाश्रम में जाकर तथा योग्य गुरु से सीख लेनी चाहिए। एक क्रिया पेट की शुद्धि के लिए और भी सुन्दर तथा उपयोगी है जिसे शंखप्रक्षालन कहा जाता है, इसे हर एक व्यक्ति को अवश्य सीखना चाहिए। यह क्रिया तो बड़ी सरल है किन्तु किसी जानकार के सामने रहकर करने से ही विशेष सुविधा होगी इसलिए इसकी विधि यहाँ पर लिखना उचित नहीं है। यदि

किसी साधक को यौगिक क्रियाओं को सीखने की विशेष रुचि हो तो वह ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट नगर, पिंजौर, हरियाणा से पत्र–व्यवहार कर सकता है।

कुञ्जल

इसके पश्चात् अब आप उसी नमक मिले हुए गरम जल को कम से कम दो सेर तक पी लें और शीघ्र ही बायें हाथ को पेट के निचले हिस्से में लगाकर सीने को आगे करके थोड़ा झुककर खड़े हो जाएँ और उस कूंची हुई दांतुन को धीरे–धीरे तालु के नीचे के गले के पास स्पर्श करावें, इससे उसमें सहलन होगी और उसके अन्दर गया हुआ पानी स्वत: बाहर आ जाएगा। बार–बार ऐसा करने से तीन–चार बार से सब पानी बाहर निकल आता है। यदि कुछ रह भी जाए तो कोई हानि नहीं। यह कुंजल क्रिया है। प्रारम्भ में इसे दो बार में लगभग चार सेर जल पीकर निकालना चाहिए। अधिक पेट की खराबी हो तो लगातार एक हफ्ते तक इसे करते रहें। बाद में हर तीसरे दिन इसे करना चाहिए। इस क्रिया से कफ, पित्त, वात–जन्य त्रिदोष दूर हो जाते हैं और शरीर भी हल्का रहता है। जठराग्नि प्रदीप्त हो उचित मात्रा से सेवन किए हुए आहार को पचाकर शरीर को पुष्ट बनाता है।

कुंजल से निवृत्त हो शुद्ध स्थान पर शुद्ध वायुमण्डल में नीचे कम्बल या दरी आदि को बिछाकर योगासन करना चाहिए।

आसन

पहले आप शान्त भाव से पूर्व की ओर मुख करके खड़े हो जाएँ। शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दें। अब आप लम्बा श्वास लें चार बार, पाचवी बार धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। इसके साथ गुदा को ऊपर खींचे, पांव को कड़ा रखें और ठुड्डी नीचे लगाकर सीने को बाहर निकाल खड़े रहें और जब ऊब होने लगे तो सिर को सामने सीधा कर धीरे–धीरे प्राणवायु को अन्दर भर लें, पुनः उसे फेफड़े में लाकर ठुड्डी को नीचे लगा लें। सावधानी के साथ उसी मुद्रा में खड़े रहें और जब ऊब होने लगे तो सिर को पुनः सीधा कर धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। श्वास को बाहर निकालते समय ऐसी भावना होनी चाहिए कि हमारे अन्दर जितने दूषित संस्कार हैं, वे सब बाहर जा रहे हैं और श्वास को अन्दर लेते समय ऐसी भावना करनी चाहिए कि दिव्य परम तेजमय प्राणशक्ति हमारे अन्दर भर रही है और उससे हमारा सारा शरीर दिव्य प्रकाशमय हो रहा है। इस क्रिया को आप तीन बार करें। याद रहे श्वास को बाहर फेंकते हुए या अन्दर लेते समय ताकत से काम नहीं लेना चाहिए, नहीं तो चक्कर आ जाएगा और गिर जाएंगे जो कि आपके लिए लाभ की अपेक्षा हानिप्रद होगा।

उपर्युक्त क्रिया को करने से आपके प्राण की ऊर्ध्वगति होगी और रक्त का प्रवाह सभी अंगों में सुव्यवस्थित रूप से होने लगेगा। ज़ठराग्नि प्रदीप्त हो आपके अन्दर के मल को नष्ट करेगी और शरीर में हल्कापन आएगा। इस क्रिया की सिद्धि होने पर साधक की साधना में तीव्र गति हो जाती है। आप कुछ आसनों का अभ्यास नित्यप्रति करें। यथा–

वृक्ष आसन

अब आप दोनों हाथों को ऊपर उठा लें और हाथ के दोनों अंगूठों को कैंचीनुमा आपस में मिला लें और शरीर को सम रखते हुए पांव की एड़ियों को मिलाकर पंजों को थोड़ा अन्तर देकर फैला लें। अब श्वास को बाहर फेंक दे। पुनः अन्दर लेते हुए एड़ी को उठाकर पंजों के बल से खड़े हो जाएं और शरीर को खींचकर कड़ा कर दें। जब ऊब होने लगे तो धीरे–धीरे श्वास को बाहर फैंकते हुए सीधे खड़े हो जाएं। इस क्रिया को भी तीन बार करना चाहिए। यह वृक्ष आसन है। इसके फल भी उपर्युक्त हैं।

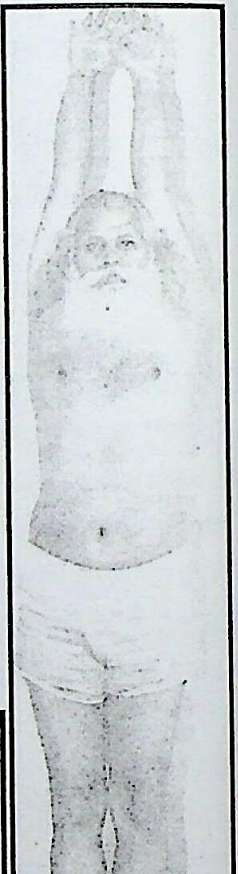

वृक्ष आसन

वीर्य–स्तम्भ आसन

अब आप खड़े होकर दोनों पांवों को फैलावें।

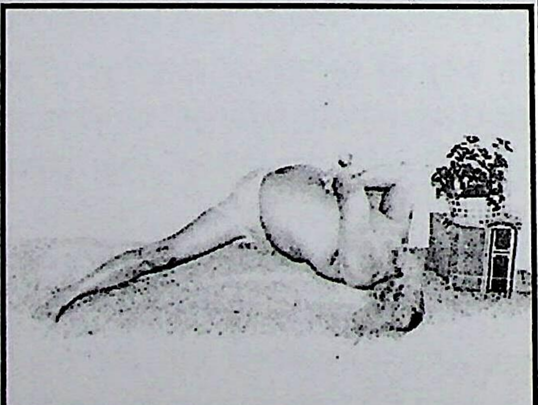

वीर्य स्तम्भ आसन

जितना हो सके दाहिने हाथ की कलाई पीठ की ओर से ले जाकर बायें हाथ से पकड़ लें। सीने को बाहर निकालते हुए तीन बार लम्बा श्वास लें। पुन: श्वास को अन्दर भरकंर ठुड्डी को सीने से लगा दें और जरा सा दाहिने तरफ झुककर दाहिने पांव को मोड़ते हुए उसके अगूठे को नासिका से स्पर्श करें। धीरे–धीरे पुन: उसी रूप से खड़े हो जाए और इसी प्रकार से बायीं तरफ झुककर उस पांव को मोड़ते हुए बायें अंगूठे को भी नासिका से स्पर्श करें। शक्ति के अनुसार एक या दो बार इस क्रिया को करना चाहिए। यह याद रहे कि इस क्रिया को करते हुए गुदा को हमेशा ऊपर की ओर खींचे रहना चाहिए। यह वीर्य स्तम्भक आसन है।

लाभ – इस आसन से धातु पुष्ट होती है और ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायता मिलती है।

सूर्य नमस्कार

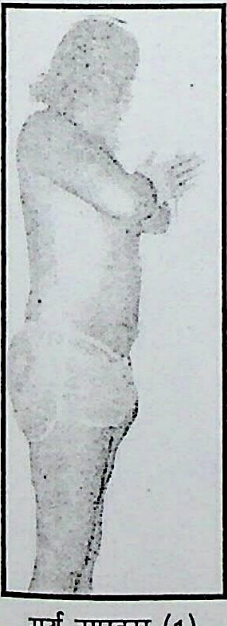
सूर्य नमस्कार (1)

अब आप सूर्य नमस्कार करें। यह एक ही क्रिया इतनी सुन्दर है कि आपके सभी आसनों की पूर्ति कर देगी। पहले आप सीधे खड़े होकर दोनों हाथों को ऊपर उठावें। श्वास को अन्दर भरकर शरीर को खींचें। बाद में श्वास को बाहर फेंकते हुए, धीरे–धीरे कमर पर्यन्त झुककर हाथ से पांव के अंगूठे को स्पर्श करें। यह याद रहे कि पांव के घुटने मुड़ें नहीं। फिर उसी रूप से श्वास को धीरे–धीरे अन्दर लेते हुए पूर्ववत् स्थिति में खड़े हो जाएं। इस क्रिया को भी तीन बार करना चाहिए। अब आप हाथ को नीचे कर साधारण रूप से खड़ें हो जाएं। धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। दोनों हाथ जोड़कर सीने पर लगा दें।

सिर को झुकाकर भगवान् सूर्य को प्रणाम करें। पुनः सिर को ऊपर कर श्वास को सीने में भर लें। अब आप जोड़े हुए हाथों को धीरे–धीरे ऊपर

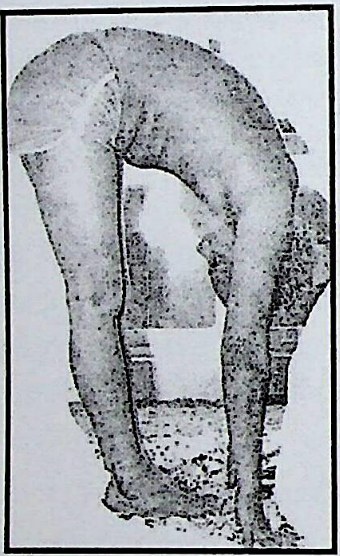

सूर्य नमस्कार (2)

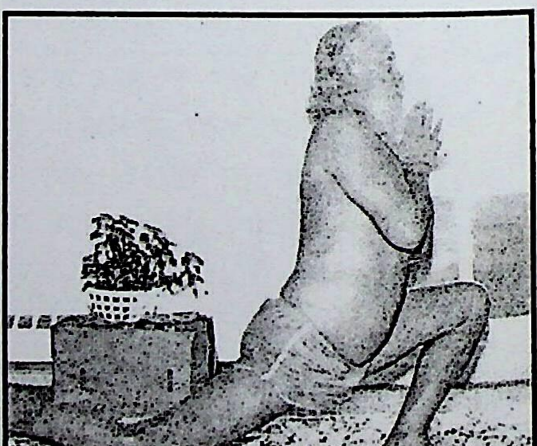

सूर्य नमस्कार (3)

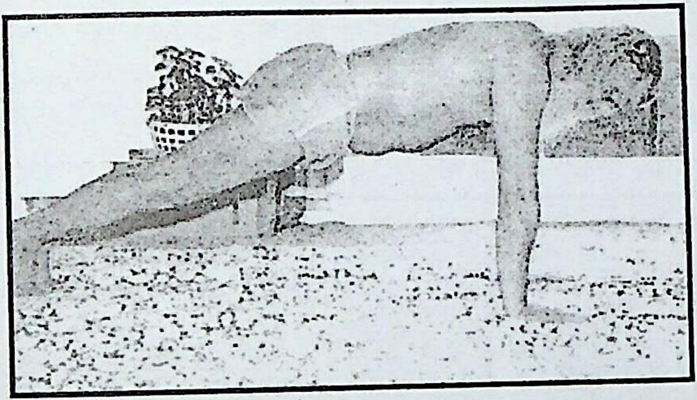

सूर्य नमस्कार (4)

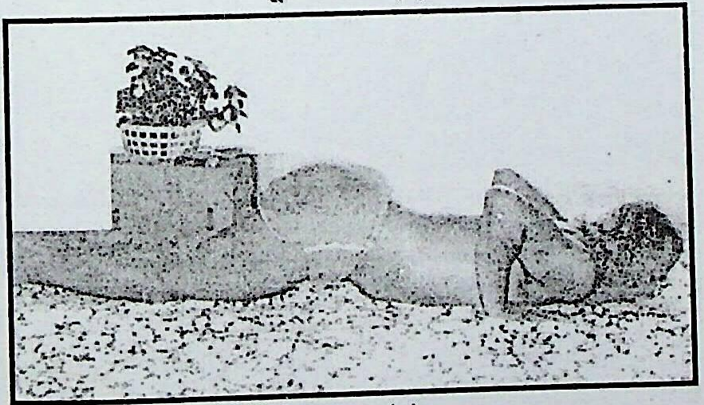

सूर्य नमस्कार (5)

खींचकर उठा लें। श्वास को अन्दर रखते हुए कमर–पर्यन्त नीचे झुकें और दोनों हाथ पांव के बगल में पृथ्वी पर स्थापित करें और सिर को घुटनों के सामने ले जाते हुए श्वास को बाहर निकाल दें। अब आप उसी मुद्रा में रहते हुए पहले दाहिने पांव को पीछे फैला दें और उनके पंजे के बल हो बायें पांव को मोड़ते हुए धीरे से बैठ जाएं। श्वास को अन्दर भर लें। दोनों हाथों को जोड़कर भगवान् सूर्य को प्रणाम करें। उसी मुद्रा में

हाथ को नीचे लगाते हुए सिर को पीछे की तरफ खींचें और पुनः सम होते हुए बायें पांव को भी पीछे फैलाकर दोनों को बराबर कर लें। पांव के पंजों तथा हथेली के बल से अब आप सम हो जाएं और शरीर को खींचें। धीरे–धीरे पांव के घुटनों को जमीन पर लगा दें, कमर ऊपर उठी रहे,

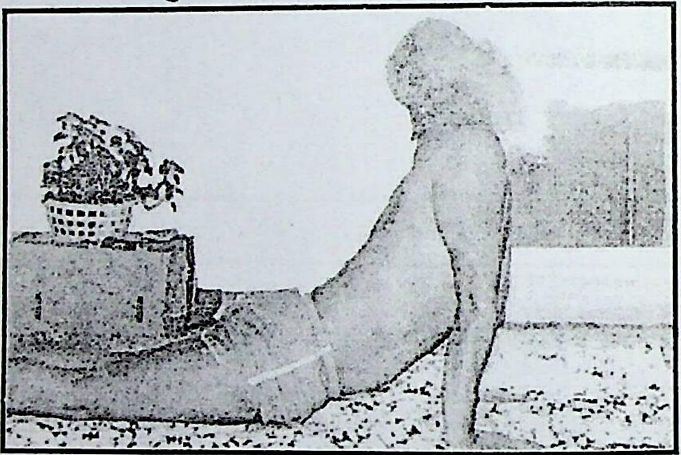

सूर्य नमस्कार (6)

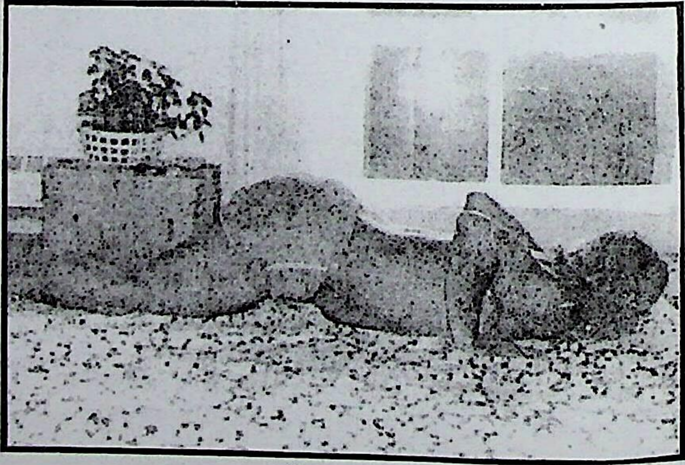

सूर्य नमस्कार (7)

सीने को भी पृथ्वी पर लगाकर नासिका से भूमि का स्पर्श करें और श्वास को बाहर निकाल दें। यह साष्टांग प्रणाम है।

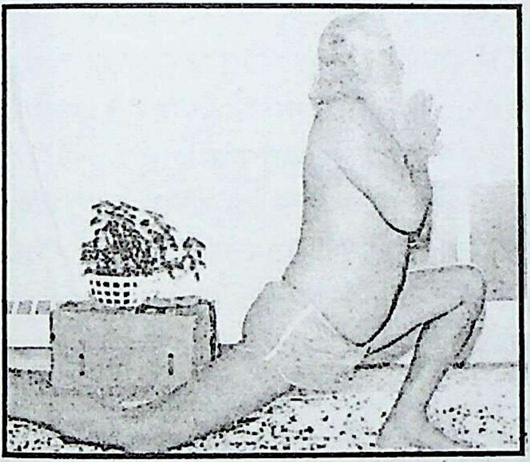

सूर्य नमस्कार (8)

इसके पश्चात् अब आप कमर को नीचे रखकर श्वास को अन्दर लेते हुए, कमर पर्यन्त शरीर के अग्र भाग को हथेली के बल से ऊपर उठावें। सिर को पीछे की तरफ धीरे–धीरे इतना खींचे जिससे कि वह आगे की सभी नाड़ियों को खींचता हुआ पिछले भाग के आकाश को देख सके।

अब आप धीरे–धीरे कमर को ऊपर उठाइये। हथेली और पंजों के बल से धनुषाकार हो जाइये। एड़ी को पंजों के साथ पृथ्वी पर लगाने का प्रयत्न कीजिए और सिर को अधिक से अधिक अन्दर की ओर खींचिए जिससे वह पृष्ठ भाग की नाड़ियों को खींचता हुआ नीचे के आकाश को देखने में समर्थ हो सके। अब आप इसके पश्चात् शीघ्र ही

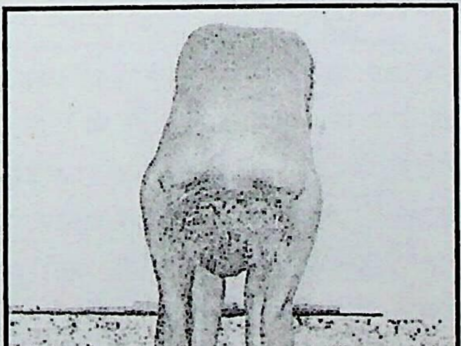

सूर्य नमस्कार (9)

दाहिने पांव को मोड़कर दोनों हथेलियों के बीच में ले आवें और उसके सहारे बैठकर हाथ को ऊपर उठा लें और भगवान् सूर्य को प्रणाम करें। पुनः हाथ को नीचे रखते हुए बायें पांव को भी हथेलियों के बीच में रख दें। अब आप दोनों पांवों को सीधा कर कमर पर्यन्त खड़े हो जाएं। श्वास को बाहर निकाल दें। पश्चात् धीरे-धीरे श्वास को अन्दर लेते हुए सीधी स्थिति में खड़े हो जाएं। यह एक सूर्य नमस्कार हुआ।

लाभ – इसके करने से शरीर की समस्त नाड़ियां अपने उचित स्थान पर हो जाती हैं और उनमें जमा हुआ दूषित रक्त गतिशील हो फेफड़ों में आकर शुद्ध हो जाता है तथा शरीर में उचित रूप से वायु की गति होने लगती है। शरीर को स्वस्थ, सुन्दर तथा सुडौल बनाने के लिए यह आसन परम उपयोगी है। इस आसन को तीन से पांच बार तक करना चाहिए और बारी-बारी से दाहिने तथा बायें पांव को आगे पीछे लेना चाहिए।

मयूर आसन

अब आप मयूर आसन करें। उसकी विधि यह है कि पहले आप बैठ जाएं और दोनों हाथों की उलटी हथेली को पृथ्वी पर लगा दें। हाथ की दोनों कोहनियों को मोड़कर नाभि के पास दोनों बगलों में लगा दें। शरीर के अग्र भाग को थोड़ा सा झुकाकर सारे शरीर का भार हाथ की कलाइयों पर ले आवें। श्वास को अन्दर लेकर दोनों पांवों को पीछे फेंक, हाथ के बल हो, सिर को झुकाकर आगे पृथ्वी से लगा दें। यह धनुषाकार स्थिति अर्ध मयूरासन कही जाती है। धीरे-धीरे इसका अभ्यास करते हुए शरीर के अगले भाग को उठाकर हाथ के बल पीछे पांवों को भी उठाने की कोशिश करें। पूर्ण रूप से दोनों कलाइयों के बल कोहनी को नाभि के बगल में लगाये हुए सारे शरीर को उठाकर सम भाव में स्थित कर लेना, यह पूर्ण मयूर आसन की क्रिया है। मयूरासन करते समय

श्वास को अन्दर रखना चाहिए। जितने समय तक श्वास अन्दर आराम से रख सकें उतनी देर तक यह आसन करें।

लाभ – इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, सारे शरीर में रक्त

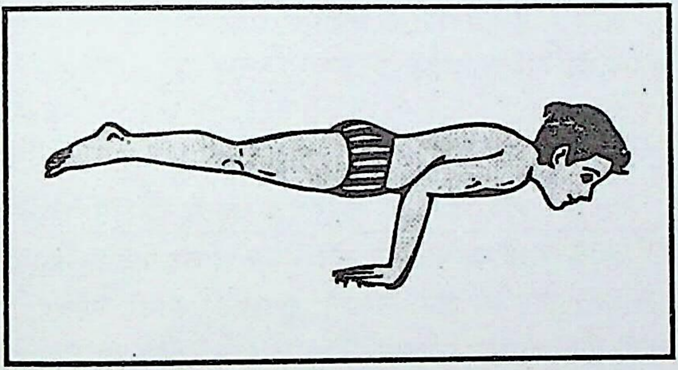

मयूर आसन

का प्रवाह हो जाता है। मुख पर तेज तथा ब्रह्मचर्य की दृढ़ता होती है।

भुजंगासन

अब आप भुजंगासन करें। उसी स्थिति में शरीर के पिछले

भुजङ्गासन

हिस्से को पृथ्वी पर लगाते हुए हाथों के बल से शरीर के अग्र भाग को कमर पर्यन्त ऊपर उठा लें और गर्दन को घुमाकर अपने पिछले शरीर की तरफ बारी–बारी दोनों तरफ देखें।

लाभ – इस आसन के करने से उदर रोगों का शमन होता है और नेत्र–दृष्टि तेज होती है।

वज्रासन

क) अब आप 'वज्रासन' करें। पांवों को मोड़कर उसके बल से बैठ जाएँ। दोनों हाथों को पीठ की ओर से ले जाकर पांव के अंगूठों को पकड़ लें। अब सीने को आगे निकालें, श्वास को अन्दर भरकर ठुड्डी को गले के नीचे लगाकर जालन्धर बन्ध लगा लें। पुनः सिर को उठाकर धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकालते हुए नासिका को पृथ्वी पर लगावें। इस स्थिति में श्वास को बाहर रोककर जितनी देर तक रह सकें, रहें। पुनः सिर को ऊपर उठाते हुए श्वास को अन्दर भर लें और पूर्ववत्

वज्रासन

स्थिति में बैठ जाएँ।

ख) अब आप धीरे–धीरे शरीर को हाथ के बल पीछे की तरफ ले जाएँ। कोहनी को पृथ्वी में लगाकर हाथ से कमर को पकड़ लें और

सिर को पीछे की तरफ पृथ्वी पर लगावें। पुनः धीरे–धीरे श्वास को बाहर निकालते हुए आप उठकर सीधी स्थिति में आ जाएं। इस आसन में आगे झुकते समय श्वास को बाहर फैंकना है और पीछे झुकते हुए श्वास को अन्दर रखना है।

लाभ – इस आसन से गले के विकार, उदर विकार तथा नेत्र विकार दूर होते हैं।

पश्चिमोत्तानासन

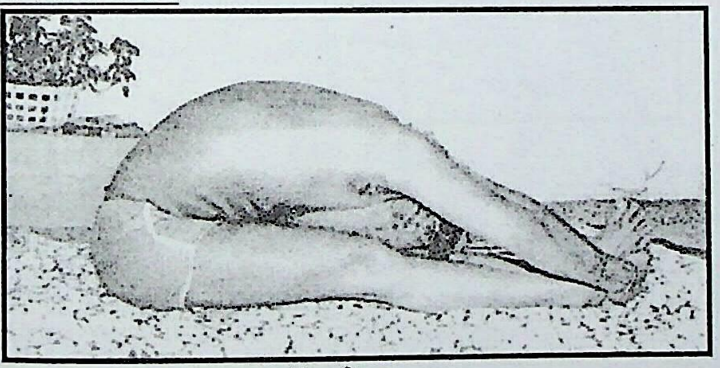

पश्चिमोत्तानासन

अब आप ठीक से बैठ जाएं और दोनों पाँवों को सामने फैला दें। दोनों हाथों को उठाकर श्वास को बाहर फेंकते हुए हाथों से पांव के अंगूठों को पकड़ लें और मस्तक को दोनों घुटनों के बीच में लगा दें। यह ध्यान रहे कि मस्तकं को घुटनों पर लगाते समय घुटने पृथ्वी से लगे रहें। फिर श्वास को अन्दर लेते हुए सीधे स्थिति में हो जाएँ। यह 'पश्चिमोत्तानासन' है।

महामुद्रा

अब आप 'महामुद्रा' करने के लिए दाहिने पांव को फैला देवें

और बायें पांव को खींचकर उसकी एड़ी सिवनी में गुदा के ऊपर लगा दें। अब दोनों हाथों से, फैलाये हुए पांव के अंगूठे को पकड़ लें और लम्बा श्वास लेकर पुन: श्वास को बाहर फेंकते हुए सिर को घुटने पर लगावें।

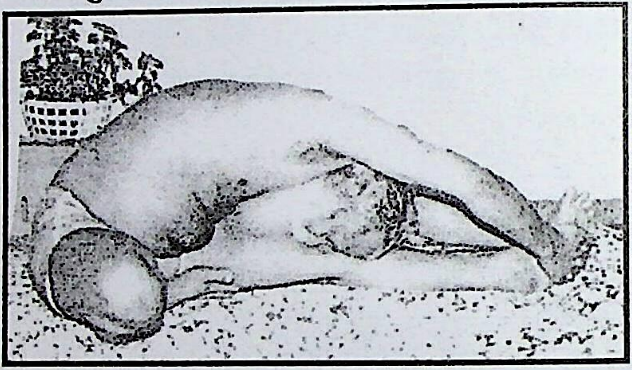

महामुद्रा आसन

इसी प्रकार श्वास को अन्दर भर जालन्धर बन्ध लगाकर सिर को पुन: घुटने पर लगावें। यह क्रिया अब दूसरे बायें पांव पर भी करें।

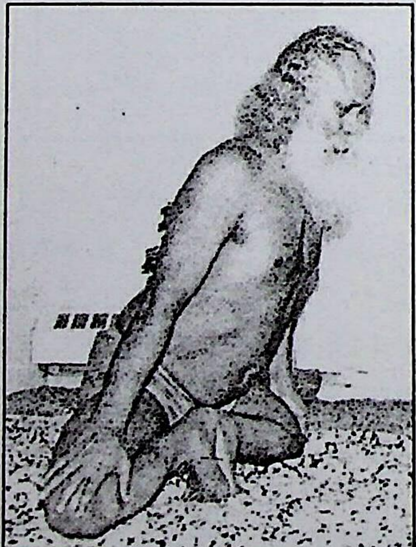

गोरक्षासन

लाभ– इस आसन से अकथनीय लाभ होते हैं। शरीर में दिव्य तेज, बुद्धि की सूक्ष्मता तथा स्मरण शक्ति की वृद्धि होती है और सब प्रकार के उदर रोगों का शमन होता है।

गोरक्षासन

अब आप 'गोरक्षासन' करें। दोनों पांवों को बटोरकर उनके तलवे आपस में जोड़ लें और एड़ियों को खींचकर सिवनी

पर लगा दें। पांव के अंगूठों को हाथों से पकड़कर सारे शरीर का भार एड़ियों पर रख दें। श्वास को अन्दर भरकर जालन्धर बन्ध लगा लें।

लाभ – यह आसन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बहुत उपयोगी है। अधिक से अधिक इस पर बैठने का अभ्यास करना चाहिए।

मत्स्येन्द्रासन

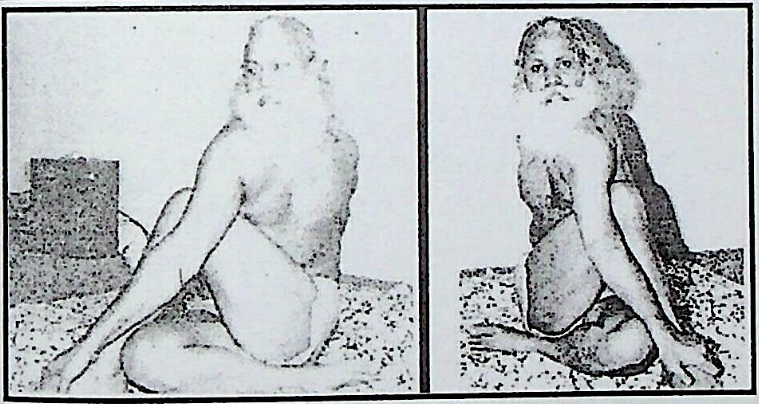

मत्स्येन्दासन (क, ख)

अब आप 'मत्स्येन्द्रासन' करें। पहले बायां पांव फैला दें तथा उस पर दाहिने पांव को समेट कर उसकी एड़ी नाभि के बगल में लगाते हुए बायें पावं की जांघ के मूल पर रख दें। अब थोड़ा सा तिरछा होकर बायें पांव को खींचकर दाहिने पांव के घुटने के बगल में रख दें। अब बाई तरफ दाहिने हाथ को बायें पांव के घुटने के बाहर से निकालकर बायें पांव के अंगूठे को पकड़ लें। ठीक उसी प्रकार से इस क्रिया को अपनी तरफ भी करें। इसके पश्चात् दोनों पांव फैलाकर आप शवासन से सो जायें। शवासन से सोने का संकेत पूर्व में कर दिया गया है।

लाभ – शरीर में बढ़ी हुई वायु तथा उदर–वृद्धि को शमन कर सुव्यवस्थित करने वाला यह अद्भुत आसन है।

सर्वाङ्गासन

पांच मिनट विश्राम के पश्चात् अब आप धीरे से दोनों पांव उठा लें। पृथ्वी से लगभग 6 अंगुल ऊपर पांव को रोक लें और धीरे से दाहिने पांव को मोड़कर जांघ तक ले आवें। फिर उसे आगे धीरे से ले जाएं। दोनों पांवों को सम कर फिर बायें पांव को उसी रूप से पीछे जांघ तक ले आवें और उसे भी बराबर कर दें। जिस प्रकार साईकल चलाने वाले के पैरों की स्थिति होती है उसी प्रकार इन पांवों को आगे–पीछे करना है। यह याद रहे कि पांव पृथ्वी से न लगें और इसको करते समय श्वास को अन्दर रोके रहें।

दस.बार करने के पश्चात् फिर दोनों पांव को ऊपर उठा लें और 90 डिग्री का समकोण बना लें। इस समय दृष्टि को पांव के अंगूठे पर लगा दें। जितनी देर तक आराम से रहा जाय अंगूठे को देखते हुए आप इसी मुद्रा में रहें। तत्पश्चात् हाथ के बल से कमर को ऊपर उठाकर पांव को बिलकुल सीधा कर ऊपर खड़ा कर दें, यह 'सर्वांगासन' है। इसे पांच से बीस मिनट तक करने की कोशिश करनी चाहिए।

लाभ– इस आसन को करने से नेत्र की रोशनी तेज होती है, उदर रोग नष्ट होते हैं और ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है।

हलासन

सर्वांगासन की स्थिति में आप दोनों पांवों को पीछे की ओर ले जाकर पृथ्वी से लगा दें तो यह आपका 'हलासन' हो जायेगा। सर्वांगासन एवं हलासन में श्वास की सामान्य गति रहनी चाहिए।

इसके पश्चात् पुनः शवासन करके विश्राम लेना चाहिए और फिर समासन से बैठकर ध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए। ध्यान के लिए पंदम्, सिद्ध, स्वास्तिक आदि कई आसन हैं किन्तु ये प्रकृति के अनुकूल ही लाभदायक होते हैं। समासन तो सभी प्रकार के साधकों के लिए लाभप्रद होता है।

प्राणायाम–प्रकरण

ध्यान की प्रगति आपके बैठने के ढंग पर आधारित है। इसके लिए समासन अधिक महत्त्व रखता है।

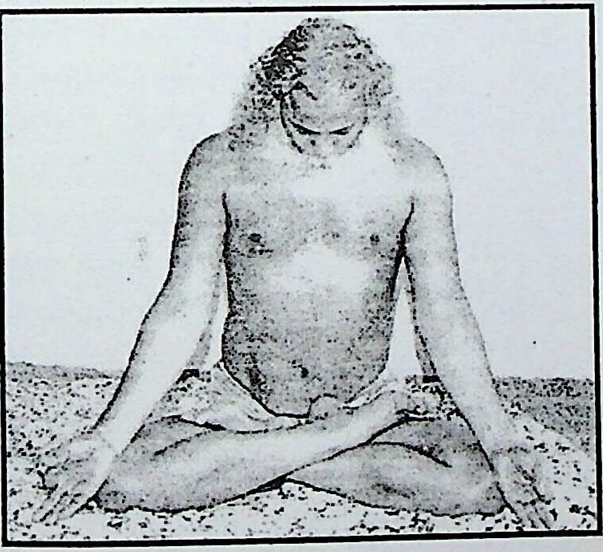

प्राणायाम (1)

समासन की विधि – पहले आप शान्त भाव से बैठ जाएँ और बायें पांव की एड़ी को नाभि के नीचे तथा लिंग के ऊपर स्थापित कर दें और उसके पंजे को दाहिनी जांघ से दबा दें। बाद में दाहिने पांव की एड़ी को खींचकर बायें पांव की एड़ी पर रख दें और उसके पंजे को भी बाई जांघ के नीचे दबा दें। दोनों हाथों को इसी प्रकार सामने या एड़ी के ऊपर नीचे रख कर समभाव से बैठ जाएं। यह है आपके समासन से

बैठने का विधान।

समासन को लगाकर बैठने से रीढ़ की हड्डी बिलकुल सीधी रहेगी और शरीर में फैला हुआ समस्त नाड़ी जाल खिंचकर अपने उचित स्थान पर स्थित हो जायेगा।

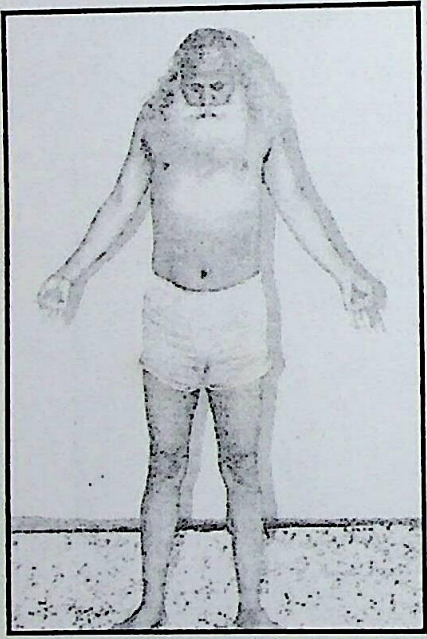

प्राणायाम (2)

प्यारे! नाभि के नीचे जो कन्द स्थान है, वहीं पर समस्त नाड़ियों की जड़ है तथा वहीं से रक्तवाहिनी समस्त नाड़ियां निकलकर सारे शरीर में फैली हुई हैं। इस आसन से बैठने पर एड़ियों से नाड़ियों के मूल स्थान पर दबाब पड़ता है जिससे समस्त शरीर में फैली हुई नाड़ियां खिचकर अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित हो जाती हैं। नाड़ी शोधन के लिए यह सर्वश्रेष्ठ आसन बताया गया है।

इस आसन से बैठकर अब आप धीरे-धीरे श्वास की गति को लम्बी करें। चार बार लम्बा-लम्बा श्वास लेने के पश्चात् अनुस्वार के साथ प्रणव (ओंकार) का उच्चारण करते हुए शब्द को मूलाधार से उठाकर श्वास के साथ धीरे-धीरे स्वाधिष्ठान, नाभि प्रदेश, अनाहत, विशुद्ध आदि चक्रों से होते हुए तालु प्रदेश के ऊपर आज्ञाचक्र में ले जाकर उसे स्थापित कर दें और वहीं पर परम प्रकाशयुक्त प्रणव का चिन्तन करते हुए श्वास को रोक लें। आराम से जितनी देर तक हो सके

श्वास को वहीं रोके रहें और यह चिन्तन करें कि हमारे शरीर की समस्त शक्ति परम प्रकाशस्वरूप उस परब्रह्म परमात्मा से युक्त है। जब ऊब होने लगे तो धीरे–धीरे पुनः श्वास को अन्दर लें और ऐसी भावना रखें कि परमात्मा की वह दिव्य तेजोमय शक्ति दिव्य प्राण के रूप में हमारे अन्दर भरी रहे। इस भाव से प्राण को अन्दर भरकर पुनः फेफड़े में ले आवें और जालन्धर बन्ध लगा कर आज्ञा च्रक्र में दिव्य प्रकाशमय प्रणव का चिन्तन करते हुए श्वास को रोककर कुम्भक करें, जितनी देर तक आराम से हो सके।

कुम्भक के पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर सम भाव में स्थित हो धीरे–धीरे प्राणवायु को बाहर निकाल दें। वायु को बाहर निकालते समय आप ऐसी भावना करें कि हमारे अन्दर जितने कलुषित संस्कार तथा मल हैं, वे सब के सब दिव्य तेज से भस्म होकर अब बाहर जा रहे हैं। प्राणवायु को बाहर निकालकर थोड़ी देर रुके रहें और ऐसा सोचें कि अन्दर से निकले हुए कुत्सित संस्कार दग्ध होकर बहुत दूर चले गए हैं। फिर अपनी स्वाभाविक स्थिति में हो जाएं।

अब मैं आपकी सुविधा के लिए इसे संक्षिप्त रूप से पुनः दोहराता हूँ। मूलाधार से शब्द के साथ प्राण को उठाते हुए स्वाधिष्ठान, मणिचक्र, अनाहत, विशुद्ध तथा तालु प्रदेश से ले जाते हुए ऊपर आज्ञाचक्र में स्थापित करना और दिव्य तेजोमय प्रणव का चिन्तन करते हुए स्थित रहना। पुनः धीरे–धीरे दिव्य प्रकाशमय परमात्मा की शक्ति से युक्त प्राणवायु को अपने अन्दर ले आना और उसे दोनों फेफड़ों में भरकर जालन्धर बन्ध लगा कुम्भक करते हुए सर्व रूप में परम ज्योतिस्वरूप परमात्मा का चिन्तन करना। पुनः संकल्प के द्वारा अन्दर के मलिन संस्कारों को श्वास के साथ बाहर फेंकते हुए रेचक करना, थोड़ी देर बाहर रोककर पुनः स्वाभाविक स्थिति में हो जाना, यह विशुद्ध प्राणा[illegible]

षणों को

की क्रिया है।

पुन: समझ लें, इस क्रिया में पहले प्रणव के साथ रेचक, फिर बाह्य कुम्भक, फिर पूरक, फिर आन्तरिक कुम्भक, फिर रेचक, तब बाह्य कुम्भक कर सामान्य अवस्था में आने की विधि बताई गई है।

साधक को चाहिए कि वह प्राण के साथ बल प्रयोग न करे। अभिप्राय यह है कि धीरे–धीरे प्राणायाम में प्रवृत्त हो, आराम से बाह्य तथा आन्तरिक कुम्भक जितना हो सके उतना ही करना चाहिए। 5 बार से 10 बार तक इस प्रकार के प्राणायाम को करना चाहिए। खान–पान की विशेष सुविधा होने पर ही इसकी संख्या में वृद्धि करनी चाहिए अन्यथा 5 बार ही बहुत है। प्राणायाम के अभ्यासी के लिए अधिक मात्रा में गो घृत, गो दुग्ध का ही सेवन करना चाहिए। यदि शरीर में वायु की वृद्धि होने लगे तो ब्याही हुई गाय की बच्छी जिसने कि स्तन का दूध पीना नहीं छोड़ा हो, उसका मूत्र लगभग 2 तोले तक प्रात:काल सेवन करें। इससे वायु विकार तथा कब्ज आदि पेट के दोष दूर हो जाते हैं। प्राणायाम की अन्य भी कई उपयोगी विधियां हैं जिन्हें गुरुमुख से ही समझकर करना चाहिए।

चिन्तन

ध्यान प्रकरण

प्यारे! अब आप शान्त चित्त से बैठ जाए और ध्यान में प्रवत्त हों। यहां तक कि क्रिया सभी प्रकार के साधकों के लिए सामान्य है किन्तु अब आगे रुचि के अनुसार ध्यान की क्रिया में विभिन्नता हो जाती है।

मन्त्र योग– यदि आप मन्त्रयोग के अनुयायी हैं तो शान्त भाव से बैठ हृदयप्रदेश में या आज्ञाचक्र में अपने गुरुप्रदत्त मन्त्र का मानसिक चिन्तन करें और इस अवस्था में मन्त्र के अर्थरूप स्वरूप का चिन्तन करें अथवा मन्त्र के शब्द को प्रकाशमय अक्षरों में देखते हुए, उन्हीं का ध्यान करें।

साकार उपासना

साकार उपासकों के लिए मन्त्र जप के साथ अपने अभीष्ट स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। यदि आप कुंजविहारी कृष्ण के उपासक हैं तो ऐसी भावना करें कि आप दिव्य वृन्दावनधाम में हैं। वहा पर दिव्य यमुनाजी बह रही हैं, उनके किनारे पर सघन कदम्ब आदि के वृक्ष हैं, जिनके ऊपर लताएं फैली हुई हैं, जिनसे एक सुन्दर सा निकुज बन गया है, जहां पर प्रिया–प्रियतम एक कदम्ब वृक्ष के नीचे प्रेमालाप व विहार कर रहे हैं। नाना प्रकार के पक्षी कलरव करते हुए मधुर शब्दों में चहचहा रहे हैं। झुण्ड के झुण्ड भंवरे गुंजार करते हुए दिव्य सुगन्ध का पान कर रहे हैं। श्रीजी की गुप्त सहचरियां कभी उनके साथ हो मुछरल आदि ले उनकी सेवा में उपस्थित रहती हैं, कभी प्रिया–प्रियतम का शृंगार कर आरती उतारती हैं, कभी वे दूर हो जाती हैं तो प्रिय–प्रियतम अकेले आपस में प्रेमालप करते हैं, कभी प्यारे श्री श्यामसुन्दर अपने पीताम्बर आदि वस्त्राभूषणों को प्रियाजी को पहनाकर उनके वस्त्र आभूषणों को

स्वयं धारण कर लेते हैं। कभी मान करके आप स्वयं बैठ जाते हैं तो कभी प्रियाजी को मान हो जाता है तो मधुर शब्दों में प्रार्थना करते हुए उन्हें मनाते हैं। कभी एक–दूसरे से एक हो प्रणय रस का पान करते हैं। कभी सखियों के साथ श्रीयमुनाजी में जल–विहार की क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार उनकी दिव्य लीलाओं का चिन्तन करते हुए आप अपने को भी उन सखियों में से एक समझें और नित्य रूप से उनके दिव्य विहार में युक्त होने के लिए प्रिया–प्रियतम से प्रार्थना करें।

2. प्यारे! यदि आप भगवान् श्रीकृष्ण की जगद्‌गुरु रूप से उपासना करते हैं तो आपको उनके दिव्य ज्ञान का, अर्जुन को सन्देश देते हुए उनका ध्यान करना चाहिए।

3. प्यारे ! यदि आप भगवान् के श्रीराम रूप से प्रेम करते हैं तो आपको चाहिए कि दिव्य अयोध्या का चिन्तन करें। उत्तर भाग में बहती हुई सरयु के किनारे बालकरूप में भगवान् का विहार अथवा जटा–मुकुट धारण किए हुए चित्रकूट आदि वनों में विचरते हुए श्रीसीता तथा लक्ष्मण सहित वनवासी श्रीराम का चिन्तन करें।

4. यदि आपको भगवान् के दिव्य ऐश्वर्ययुक्त राजा राम प्रिय लगते हों तो दिव्य सिंहासनासीन श्रीसीताजी के सहित भगवान् राम का चिन्तन करें। इसी प्रकार प्रभु के चरित्रों के आधार पर आप उनके विविध रूप का चिन्तन कर उनकी नित्य लीला में स्थान प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करें।

5. प्यारे! यदि आप भगवान् शिव के उपासक हैं तो हिमाच्छादित हिमालय के कैलाश–शिखर पर पदमासन से बैठे हुए जटा–मुकुट अर्धचन्द्रधारी भगवान् आशुतोष का चिन्तन करें। इसी प्रकार से सर्वालंकारों से विभूषित अपने इष्ट का किसी भी रूप में चिन्तन करते हुए उसी में मन को लगा दें।

6. यदि आपको महामाया जगदम्बा की उपासना प्रिय है तो

आप उस सर्वव्यापी जगज्जननी को चतुर्भुज अथवा अष्टभुज रूप में सिंह के ऊपर विराजमान स्वरूप का चिन्तन करें। उनकी दिव्य ज्योति आपसे युक्त हो आपको अनन्त शक्ति प्रदान कर रही है तथा सब प्रकार से आपकी सुरक्षा के लिए उन्होंने विविध आयुधों को धारण कर रखा है। इस प्रकार से दृढ़ विश्वास के साथ सर्वरूप में जगज्जननी का चिन्तन करते हुए निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाए।

यथाभिमतध्यानाद्वा।

7. प्यारे! हर एक साधक को अपनी भावना तथा रुचि के अनुसार ही इष्ट के स्वरूप में अनुरक्त होना चाहिए। साधक की रुचि अपने आप उसे बता देती है कि उसके इष्ट की कौन सी लीला उसे प्रिय है। जो रूप, लीला, नाम और स्थान उसे अधिक प्रिय तथा आकर्षक हो उसी स्थान पर उसी रूप में अपने इष्ट की उसी लीला का चिन्तन करे। इससे बाह्य जगत् में लगा हुआ मन एकाग्र होकर स्वतः इष्ट में अनुरक्त हो जाता है। प्यारे! समस्त साधनों का एक ही प्रयोजन है कि जिस किसी भांति से चित्त निर्विकार हो शान्त हो जाय। शान्त चित्त में ही चेतन के दिव्य प्रकाश की अनुभूति होती है। जिस प्रकार की साधक की भावना होती है, उसी रूप में चित्त की साम्यावस्था होने पर अपने अभीष्ट का दर्शन प्राप्त करता है। यह एक निश्चित विधान है। अभिमत स्वरूप का चिन्तन करने से चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। निरुद्ध चित्त में ही परम चेतन परमात्मा का साक्षात्कार होता है जिससे कार्य कारण–स्वरूप का बोध होने पर पुरुष पुरुषोतम से एक हो जन्म–मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। यही जीव के जीवन का परम लक्ष्य है। प्यारे! साकार उपासना के अतिरिक्त अब मैं तुम्हें निराकार के चिन्तन की विधि का संकेत करता हूँ।

निराकार उपासना

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।

8 . प्यारे! पूर्वलिखित आसन–प्राणायाम के पश्चात् अपने अभिमत आसन से बैठ प्रणव के साथ अपने सीमित अहं को अनन्त में प्रस्थापित कर शान्त भाव से बैठ जाएं। इस अवस्था में किसी का भी चिन्तन नहीं करना। प्रशान्त भाव से सर्व रूप में दिव्य परम तेजोमय परमात्म–स्वरूप में स्थित रहना। उस समय मन में जितने विकल्प आवें, उनकी तरफ बिलकुल ध्यान नहीं देना और न उन्हें रोकने की कोशिश करना। चित्त में चित्रित समस्त संस्कार क्रमिक रूप से संकल्प–विकल्प के द्वारा स्वतः समाप्त हो जाएंगे। आपको उनके साथ किसी भी प्रकार से सहयोग नहीं करना है। सदैव असंग रहना है। इस प्रकार से अधिक से अधिक इसका अभ्यास करना चाहिए। जगत् को भ्रमात्मक अथवा स्वप्नवत् असत् जान सदैव एक नित्य पूर्ण दिव्य रसमय आत्मस्वरूप में ही स्थित रहना चाहिए।

प्यारे! इस प्रकार के अभ्यास को एकान्त स्थान पर ही करना उपयुक्त होता है। इससे क्रमशः प्राण तथा मन शुद्ध तथा सूक्ष्म हो स्वतः अपने कारण में लय हो जाते हैं और निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह राज योग का मार्ग है। इसके लिए किसी भी प्रकार के बाह्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु आसन तथा प्राणायाम के द्वारा चित्त को शुद्ध करना अति आवश्यक है अन्यथा चित्त का प्रशान्त होना असम्भव हो जाएगा।

प्यारे! जो साधक हठयोग के बिना केवल अहं ब्रह्मास्मि' के

चिन्तन में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें कभी भी समाधि लाभ नहीं होता। कारण कि उनकी मन से असंगता नहीं हो पाती। अत: आहार–विहार शुद्ध रखते हुए आसन–प्राणायाम के साथ–साथ इस प्रकार के राजयोग में प्रवृत्त होना चाहिए।

लय योग

प्यारे! अब मैं तुम्हें कुण्डलिनी योग का थोड़ा सा सूक्ष्म रूप से संकेत करता हूँ। विशेष रूप से इसकी प्रक्रिया का लेखनी के द्वारा उल्लेख करना मैं उचित नहीं समझता हूँ क्योंकि गुरु के सान्निध्य में रहकर ही इन क्रियाओं का अभ्यास किया जाता है।

इस योग के अभिलाषी को सर्वप्रथम शरीर की आन्तरिक स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। पहले थोड़ा सा तुम शरीर की आन्तरिक स्थिति को समझ लो। यद्यपि शरीर की आन्तरिक अवस्था का पूर्ण रूप से वर्णन करना आवश्यक नहीं, फिर भी जिन–जिन अंगों से साधन का विशेष सम्बन्ध है उनका ही मैं यहाँ पर संकेत करूंगा।

आपका शरीर नाड़ियों का एक जाल है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां पर सूक्ष्म नाड़ियों का फैलाव न हो। समस्त नाड़ियों से व्यान वायु के द्वारा शरीर के सर्व अंगों में रक्त का संचालन होता है।

प्राणवायु के प्रधान रूप से पांच भेद हैं–

1. नासिका के मार्ग से अन्दर हृदय–प्रदेश तक आने–जाने वाली वायु को प्राण कहते हैं।

2. हृदय से नाभि के मध्य में जिससे जठराग्नि प्रदीप्त हो पाचन का काम करती है, वह समान वायु है।

3. तीसरी व्यान वायु कही जाती है जिससे कि शरीर के समस्त

अंगों में रक्त का संचार होता है अथवा जो सारे शरीर में व्याप्त हो उसे क्रियाशील करती है।

4. नाभि से नीचे गुदा प्रदेश तक जिसके द्वारा मल–मूत्र, वीर्यत्याग आदि की क्रिया होती है, वह अपान वायु के नाम से कही जाती है।

5. पांचवीं उदान वायु है, जो हृदयगत सूक्ष्म नाड़ियों से होती हुई शिरोभाग में जाकर समस्त सूक्ष्म ज्ञान इन्द्रियों को क्रिया में प्रवृत्त करती है। प्राण के पांच उपभेद भी हैं किन्तु उनके वर्णन की यहां विशेष आवश्यकता नहीं। अब आप यह समझ गए होंगे कि आपके शरीर में प्राण किन–किन स्थानों पर किस प्रकार से विभक्त हो क्रिया–शक्ति प्रदान करता है।

प्यारे! प्राणायाम के द्वारा प्राण–अपान दोनों को सम कर, समान वायु को स्थिर सूक्ष्म करके, उदान वायु से एक होकर, उसी के मार्ग से ले जाकर ब्रह्माण्ड में स्थापित किया जाता है और इसी प्राण के साथ–साथ शरीर में फैली हुई समस्त चेतना शक्ति को भी समेटकर चित्त में स्थापित किया जाता है, यही इस योग का रहस्य है।

आज्ञाचक्र के बिलकुल पीछे ब्रह्मरन्ध्र के नीचे तालु के ऊपर ठीक इसके मध्य में चित्त का स्थान है, जिसकी स्थिति मयूर के अण्डे के समान समझनी चाहिए, उसे ही चित्ताकाश कहते हैं। उसके ऊपर सहस्रदल कमल स्थित है, जहां से परमात्मशक्ति का प्रवेश होता है और उसके दिव्य प्रकाश से ही चित्त में चेतना की जागृति होती है।

चित्त के निचले भाग में ही सूक्ष्म ज्ञान नाड़ियों का एक मूल स्थान है और वहीं से सभी ज्ञान नाड़ियां शरीर के नीचे की ओर आँख, कान, नाक, जिह्वा, हृदय, नाभि,स्वाधिष्ठान आदि स्थानों पर फैली हुई हैं। उन्हीं के द्वारा समस्त शरीर में चेतना का संचार होता है। उसी चित्ताकाश से एक नाड़ी विशेष हृदय स्थान पर आती है। उसी चित्ताकाश से एक नाड़ी

विशेष हृदय–स्थान पर आती है जिसके द्वारा उसमें गति उत्पन्न होती है और सारे शरीर में रक्त शुद्ध होकर उसका संचार होता है।

एक प्रधान नाड़ी चित्त प्रदेश से रीढ़ की हड्डियों के मध्य में होती हुई मूलाधार तक आती है। शरीर को धारण करने में इसी की प्रधानता है। गुदा के दो अंगुल ऊपर जहा रीढ़ की हड्डी समाप्त होती है, वहीं पर त्रिकोण रूप में मूलाधार का स्थान है। मूलाधार तक आई हुई इस ज्ञान–नाड़ी से ही अन्य प्रमुख स्थानों को चेतना शक्ति प्रदान करने वाली ज्ञान नाड़िया शाखा–प्रशाखा रूप से निकली हुई हैं। उनमें प्रमुख पांच स्थान हैं। जैसे, स्वाधिष्ठान नाभि के चार अंगुल नीचे स्थित है, यहीं से रक्तवाहिनी नाड़ियों का प्रसार होता है इसलिए इसे कन्द स्थान भी कहते हैं। दूसरा स्थान नाभि है। यौगिक भाषा में इसे मणिपुर भी कहते हैं। यहीं से जठराग्नि को प्रज्वलित करने वाली शक्ति जागृत होती है।

इसके ऊपर हृदय–प्रदेश में अनाहत चक्र है जहां से रक्त शोधन का कार्य होता है और उसके भी ऊपर कण्ठ प्रदेश में विशुद्धचक्र स्थित है जिसके द्वारा वाणी आदि की क्रिया सम्पन्न होती है। इन सभी चक्रों को चेतना प्रदान करने वाली नाड़ियों का सम्बन्ध उस मूल नाड़ी से बना हुआ है जोकि चित्त से मूलाधार में जाकर स्थित होती है। उसे ही सुषुम्ना नाड़ी के नाम से कहा जाता है और उसमें जो चेतना शक्ति है उसे ही कुण्डलिनी शक्ति के नाम से कहा गया है।

भाव के साथ उस मूलाधार से जब प्रणव का उच्चारण होता है तो वह सारी चेतना शक्ति एक के बाद दूसरे चक्रों से होती हुई अपने मूल स्थान में स्थित हो जाती है। यही अभ्यास का सूक्ष्म रहस्य है। यह कहने में जितना सरल है, करने में उतना ही कठिन है। भिन्न–भिन्न चक्रों का भेदन करते हुए जीवनी शक्ति को ऊर्ध्वमुखी किया जाता है। इसी प्रकार अन्त में समस्त शक्ति को चित्त में प्रस्थापित कर देने पर निर्विकल्प समाधि की

अवस्था प्राप्त होती है।

जो प्रमुख रूप से पांच चक्र ऊपर वर्णन किये गए हैं, वे क्रमशः 'पंच महाभूतों' के ही स्वरूप जानो क्योंकि जैसे विराट् पुरुष के शरीर–ब्रह्माण्ड में ये पंच महाभूत क्रमिक रूप से स्थित हैं ठीक उसी प्रकार से उसके प्रतिरूप मानव के शरीर में भी चक्रों के रूप में पंच महाभूतों की स्थिति है। मूलाधार पृथ्वी, स्वाधिष्ठान जल, मणिपुर अग्नि, अनाहत वायु तथा विशुद्धचक्र आकाश का प्रतिरूप है। जैसे–जैसे योगी इन चक्रों पर विजय कर इनसे ऊँचे उठता है, उसी प्रकार इन पच महाभूतों से उत्पन्न हुई सिद्धियां साधक के सामने आती हैं। यदि उनके स्वाद में साधक अनुरक्त हुआ तो अपने लक्ष्य से च्युत हो वहीं तक रह जाता है। इसलिए साधक को बड़ी सावधानी के साथ इनके दिव्य विषयों को त्यागकर आगे बढ़ना चाहिए। विशुद्धचक्र तक आया हुआ साधक पुनः नीचे गिर सकता है। इसलिए जब तक इन पंच महाभूतों को जीतकर इसके ऊपर आज्ञाचक्र में स्थिति प्राप्त न कर ले, तब तक उसे बहुत सावधान रहना चाहिए। आज्ञाचक्र में स्थित हुए योगी को गिरने का भय नहीं रहता। इन क्रियाओं को यौगिक भाषा में भूमिजय के नाम से कहा जाता है।

चेतना सत्ता चित्त की वृत्तियों के माध्यम से शरीर में फैलकर इन्द्रियों में चेतना जागृत करती है और उसके द्वारा प्रेरित हो इन्द्रियां बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं और उसी विषय रस के साथ आसक्ति हो जाने पर चित्त मोहित हो भ्रमित हो जाता है। मोहित चित्त ही विषयों के रंग में रगा हुआ चेतन के बन्धन का कारण होता है क्योंकि चित्त के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त हुआ चेतन चित्त की क्रियाओं को ही अपनी क्रिया तथा उसके वृत्तिमय स्वरूप को ही अपना स्वरूप मानकर अनेक प्रकार के विषयों की वासना से प्रेरित हो भिन्न–भिन्न योनियों में भटकता रहता है। योगाभ्यास के द्वारा जब तक चित्त की वृत्तियों को समेटकर शरीर में फैली हुई चेतना

संवरण करके चित्त में प्रस्थापित नहीं करता, तब तक चेतन को स्वस्वरूप का बोध नहीं होता। निज स्वरूपानुभूति के अभाव में चेतन का इस प्रकार भ्रमित होकर दुःख–सुख की अनुभूति करना किसी काल में छूट नहीं सकता।

ज्ञान की बातें करना और बात है तथा निश्चित रूप से सत्य वस्तु को समझना और बात है। योग ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सत्य की अनुभूति की जा सकती है। वाक्य–ज्ञान के द्वारा तो केवल मनोरंजन तथा वाणी विलास ही सिद्ध होता है। जब तक सत्य की अनुभूति नहीं हुई तब तक भला उसमें अनुराग कैसे हो सकता है ओर बिना अनुराग के सत्य में स्थित हो एक होना सम्भव कैसे?

प्यारे ! षट्चक्र भेदन के पश्चात् आगे दो चक्र और हैं जिन्हें ऊपर के वर्णन में चित्ताकाश तथा सहस्त्र दल कमल के नाम से कहा गया है। आज्ञा चक्र में चेतना को स्थापित करना साधक के पुरुषार्थ पर निर्भर है किन्तु उससे ऊपर ले जाने के लिए उसके पास केवल भगवत्कृपा के कोई और दूसरा आधार नहीं है। अस्तु, ईश्वर में दृढ़ विश्वास करके साधन में प्रवृत्त होने वाले साधकों की अभिलाषा ईश्वरीय विधान से अवश्य पूर्ण होती है। ईश्वरीय कृपा तथा गुरु कृपा से साधक सहस्त्र दल कमल में स्थित हो दिव्य लक्ष्य को प्राप्त करता है।

प्यारे! इसीलिए दिव्य योग पथ में बताया गया है कि ज्ञान, प्रेम तथा योग का साथ–साथ ही विकास होता है। जितनी मात्रा में आपको प्रभु की महिमा का बोध होगा उतना ही उनमें विश्वास के साथ प्रेम भी होगा और जितना प्रेम होगा उतनी ही उनसे एकता की अनुभूति भी होगी। इस प्रकार से यह सरल, सरस तथा सुन्दर साधन का सहारा लेकर मानव परमात्मा के नित्य, पूर्ण, दिव्य रसमय प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है।

प्यारे! बिना ज्ञान के प्रेम नहीं और बिना प्रेम के योग अथवा प्रभु

से एकत्व की अनुभूति नहीं हो सकती। अस्तु, मानव को चाहिए कि सद्‌भावना से युक्त हो धीरे–धीरे बाह्य विषयों से चित्त का संयम करते हुए सत्य की अनुभूति तथा उससे अनुराग कर एकता को प्राप्त हो। जन्म–मरणरूपी इस संसार चक्र से छूटने का यही एकमात्र साधन है।

ऊपर बताये हुए नियमानुसार अभ्यास का अवलम्बन लेकर लक्ष्य की पूर्ति के लिए सतत तत्पर रहना चाहिए। प्रातः काल आसन, प्राणायाम आदि सभी क्रियाओं को क्रमिक रूप से कर ध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए, किन्तु सायंकाल में केवल शौच आदि से निवृत्त हो निश्चित आसन से बैठकर प्राणायाम करके ध्यान में युक्त होना चाहिए।

प्यारे! यदि तीव्र अभिलाषा समाधि लाभ की हो तो एकान्त में निवास करते हुए चौबीस घण्टे में चार बार प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा मध्यरात्रि में प्राणायाम के साथ अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए। याद रहे यदि कभी इस प्रकार तीव्र भाव से साधन में संलग्न होना हो तो गो–दुग्ध, गो–घृत तथा सात्त्विक आहार का पूर्ण रूप से प्रबन्ध कर लेना होगा अन्यथा अन्न के बल पर इस प्रकार से साधन में प्रवृत्ति लाभ के बदले हानिकारक ही सिद्ध होगी। अभ्यास में जब कभी खुश्की हो तो गो–दुग्ध में घी मिलाकर नाक के द्वारा अथवा साधारण रूप से ही सेवन करना चाहिए।

प्यारे! आसन, प्राणायाम आदि क्रियाओं का अनुष्ठान अपनी योग्यता तथा परिस्थिति के अनुसार ही करना चाहिए। विशेष जानकारी के लिए व्यक्तिगत रूप से मिलकर ही समझना उपयुक्त होगा। इस लेख में केवल सरल रूप से होने वाली क्रियाओं का ही संकेत किया गया है। सर्वसाधारण को सामान्य रूप से सूक्ष्म प्राणायाम के साथ प्रातः तथा सायंकाल मंत्र के साथ इष्ट रूप का चिन्तन करते हुए ध्यान का अभ्यास करना ही श्रेष्ठ है। इसी के द्वारा वह क्रमिक रूप से चित्त को एकाग्र कर चेतन के प्रकाश से युक्त हो कृतकृत्य हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं।

दिव्य योग–साधन

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितोहि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।

अकारण करुणा सिन्धु परम ऋषि योगेश्वर श्रीगुरुदेव की अनुकम्पा से तथा उनकी दिव्य करुणामयी शक्ति से प्रेरित हो उन्हीं के परमप्रिय निजजन साधकों की नित्य अभिलाषा को सुगमता से पूर्ण करने की परमोपयोगी पावन प्रक्रिया जो कि उन्हीं के करुणामय स्वभाव से विनिःसृत है, उसी दिव्य योग साधन को साधकों के हितार्थ व्यक्त कर रहा हूँ।

गुरुदेव की प्रेरणा से उनके द्वारा मिले हुए दिव्य सन्देश को एक नित्य पूर्ण दिव्य रसमय परम तत्त्व को प्राप्त करने के अभिलाषी साधकों के लिए इस दिव्य योग साधन की पावन प्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया में छः अंग हैं–

1. जगत् से निराशा तथा आत्म विश्वास की दृढ़ता ही आसन है।
2. श्वास के द्वारा प्रणव या किसी भी नाम का लम्बे स्वर में जाप ही प्राणायाम है। इसके द्वारा प्राण सूक्ष्म हो जाते हैं तथा मन की गति भी स्थिर हो जाती है।
3. इस प्रकार से अधिक अभ्यास हो जाने पर जो सगुण उपासक हैं उनका अपने उपायस्यदेव में तथा जो निर्गुण उपासक हैं उनका ज्योति स्वरूप में चित्त का टिकाव होने लगता है और जगत् से चित्तवृत्ति सिमटकर अन्तर्मुखी हो जाती है। यही प्रत्याहार है जिससे इन्द्रियों का व्यापार शिथिल होता है।

4. अधिक अभ्यास होने से क्रमशः चित्त एकाग्र तथा निर्मल हो ध्येय में लग जाता है। इसी को धारणा कहते हैं।
5. सतत ध्येय की स्मृति बनी रहना ही ध्यान है।
6. ध्येयाकार वृत्ति को ही समाधि कहते हैं।

जो साधक आत्मरति प्राप्त करना चाहता है उसके लिए प्रणव का जप ही विशेष उपयोगी है और जो ईश्वर की साकार रूप में उपासना करने वाले हैं, उन्हें अपने इष्ट के ही नाम का जप करना चाहिए क्योंकि नाम के जप से रूप की स्मृति स्वतः सतत बनी रहती है।

प्रणव के जप की विशेषता यह है कि इसके जापक की पहले सगुण साकार में स्थिति होती है पश्चात् वही निर्गुण निराकार में परिणत हो जाती है। प्रणव की उपासना करने वाला साधक राजयोग का पथिक होता है।

राजयोग के पथिक प्रायः जगत् से उदासीन होकर एकान्त प्रिय होते हैं। कर्मसंन्यास उनका स्वभाव होता है। इस मार्ग से आत्मपद प्राप्त योगी का शरीर अधिक दिन नहीं रहता क्योंकि इसके सब आधार प्रायः नष्ट हो जाते हैंयदि प्रारब्धानुसार रह भी जाएं तो वह अवधूत अवस्था को प्राप्त हो जगत् व्यापार से सर्वदा शून्य रहता है। शरीर रक्षा की भी उसे चिन्ता नहीं रहती। वह ब्रह्ममय हुआ विदेह अवस्था को प्राप्त योगी राजयोगी कहा जाता है। उपर्युक्त साधन प्राणाली प्रणव जप के द्वारा आत्म भाव की उपासना करने वालों की है। जो भगवान् की उपासना साकार रूप में करते हैं वे भी प्रणव का जप ईश्वर भाव से करते हैं। जैसे श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिव, नारायण, दुर्गा आदि के स्वरूप में जिनकी प्रीति है, वे लोग भी प्रणव के जप के साथ अपने इष्ट का ध्यान करते हैं तथा उपर्युक्त साधन द्वारा इष्ट पद की प्राप्ति कर लेते हैं किन्तु इन साधकों को केवल प्रणव का जप करके इष्ट ध्यान में उतनी सुगमता नहीं होती इसलिए उन्हें इष्ट नाम का

जप ही विशेष उपयुक्त है और उसी से वे अपने ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं।

राम नाम की विशेषता अधिक है। यह नाम निर्गुण तथा सगुण दोनों का ही वाचक है। इसके जप से पहले सगुण साकार, पश्चात् निर्गुण निराकार पद की भी प्राप्ति होती है। प्रायः सगुण साधकों को वह निराकार पद अभीष्ट नहीं होता। सगुंण उपासना के पथ के पथिक ही लययोगी कहे जाते हैं। सुरति योग, शब्द योग, प्रेम योग तथा भक्ति योग इसी के अवान्तर भेद हैं।

प्रायः जिन भक्तों का आज जगत् में नाम प्रसिद्ध है वे सब इसी योग के पथिक हुए हैं क्योंकि इसी मार्ग के अवलम्बन से वर्तमान युग में सुगमता से ध्येय की प्राप्ति सम्भव है। ऐसे योगी व्यवहार शून्य नहीं होते बल्कि व्यवहार कुशल होते हैं। इनकी दृष्टि में जगत् मिथ्या नरक का कुण्ड वा दुःख का घर नहीं होता। ये जगत् को प्रभु का स्वरूप समझते हैं तथा कुछ न चाहते हुए जीवमात्र की प्रभुभाव से सेवा करते हैं।

इस मार्ग के पथिक को वस्तु तथा व्यक्ति से उपरामता न होकर भोगों से उपरामता होती है। ऐसे साधक व्यवहार में बर्तते हुए भी वास्तव में उससे अलग रहते हैं। कोई भी कर्म उन्हें अपने फल में आबद्ध नहीं कर पाता क्योंकि इनका कर्मयोग वासनारहित होने से दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम होता है। इस प्रकार के साधकों को ही जीवन मुक्त तथा वर्तमान युग में भक्त, कर्मयोगी आदि नामों से पुकारा जाता है।

ऊपर बताया हुआ मार्ग अपनी रुचि के अनुसार उभयविध योगाभिलाषी साधकों के लिए सेवनीय है, अन्तर केवल इतना ही है कि प्रणव या अन्य नाम जप के साथ राजयोगी किसी रूपविशेष का चिन्तन नहीं करता। वह केवल परम प्रकाशस्वरूप व्यापक आत्मभाव वा ब्रह्मभाव में निमग्न रहता है। इसी से वह दिव्यरसमय शून्य परमपद को प्राप्त करता है। शून्यपद का अभिप्राय हेय नहीं अपितु निर्वाण, कैवल्य आदि समझना चाहिए।

आत्मा या ब्रह्म यह प्रारम्भ काल के साधन की दृष्टि से दो नामों के भेद से कहा गया है, वैसे दोनों तत्त्व तो एक ही हैं। आशय यह है कि कोई साधक अपने शरीरस्थ चेतन का चिन्तन करता हुआ आगे चलकर व्यापक भाव को प्राप्त हो जाता है जिसे आत्मचिन्तक कहते हैं। दूसरा साधक प्रारम्भ से ही व्यापक भाव का चिन्तन करता है, इस कारण से ही उसे ब्रह्म चिन्तक कहते हैं।

हठयोग के पथिक भी हठयोग की क्रियाओं को करते हुए शरीर शुद्धि के पश्चात् इसी मार्ग का अवलम्बन लेते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि हठयोग में स्थूल शरीर को साधने की विशेष आवश्यकता है जबकि अन्य मार्गों में नहीं। हठयोगी आसनों तथा प्राणायामों के अवान्तर में कई प्रकार के प्राणायामों की भी साधना करते हैं। इसी प्रकार से उनकी षट्कर्म आदि और भी कई प्रकार की शोधन क्रियाएं होती हैं जिनका विवरण यहां देना आवश्यक नहीं समझा गया।

समाधि के दो भेद – अब यहां से दो प्रकार की समाधि का मार्ग अलग होता है। हठयोगरत योगी प्राण को अधिक देर तक रोक लेने को ही धारणा, ध्यान, समाधि मानता है। इस क्रिया में प्राण की गति को रोक सुषुम्ना नाम की नाड़ी के द्वारा मस्तक में ले जाकर धारण करता है। धीरे–धीरे जब अधिक अभ्यास हो जाता है तो कई दिनों तक की समाधि लग जाती है, इसे जड़ समाधि कहते हैं। इस मार्ग में भौतिक सिद्धियां अधिक हैं, विघ्न भी अधिक हैं। हठयोग के अभ्यासी के लिए खाने–पीने की अधिक सुविधा होनी चाहिए। गो घृत, गो दूध आदि की विशेष आवश्यकता होती है। अन्न खाकर यह योग नहीं किया जाता। हठयोगी का किसी भी प्रकार के सामाजिक व्यवहार से सम्बन्ध नहीं होता। इस मार्ग के पथिक को प्रसूता स्त्री के समान हीं समझना चाहिए। यह उपमा कोई अत्युक्ति की नहीं और न उपेक्षा की दृष्टि से ही दी गई है। यह अनुभव विशेष से कहा गया है, इसमें संशय नहीं।

जैसे प्रसूता स्त्री की पूर्ण रूप से संभाल न होने पर उसका रुग्ण हो विनाश अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार हठयोगी का भी समझना चाहिए।

<u>विशेष बात</u>– हठयोगी यदि आगे चलकर राजयोग में प्रवृत्त नहीं होता तो उसे जीवन में वास्तविक लाभ से वंचित ही रहना पड़ता है क्योंकि विचार के बिना प्राण रोक लेने मात्र से वास्तविकता का बोध नहीं होता। हां, इतना जरूर होता है कि प्राणों की गति रुक जाने से मन की गति रुक जाती है जिससे बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं रहता। इसके द्वारा मनोनिग्रह होता है, मनोनाश नहीं। शान्तिमय होकर एक प्रकार का आनन्द अवश्य मिलता है लेकिन वह कब तक? जब तक कि प्राण रुका रहता है। बाद में तो यदि किसी प्रकार का विक्षेप या प्रतिकूलता हुई तो क्रोधादि सभी अपना काम करने लगते हैं।

इस मार्ग के पथिक को अभिमान अधिक होता है, सहनशीलता का तो नाम नहीं रहता। जो–जो कार्य अन्य मार्ग में आवश्यक हैं वे सभी इसमें विघ्नरूप से होते हैं। सामाजिक व्यवहार तो इस मार्ग के योगी का महान् शत्रु है। यही कारण है कि हठयोगी अधिकतर एकान्त, निर्जन स्थान तथा गुफाओं की शरण लिये रहते हैं। हठयोग का सुन्दर फल तो यह है कि साधक राजयोग में प्रवृत्त हो सहज समाधि को प्राप्त कर ले अन्यथा भौतिक सिद्धियों के अतिरिक्त स्वल्प शान्ति के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता।

हठयोग की अपनी अधिक उपयोगिता है क्योंकि यह राजयोग तथा लययोग दोनों का अधिक सहायक होता है। जैसे आयुर्वेद में शहद की महिमा है, उसे किसी भी दवा के साथ यदि मिला दें तो वह दवा अधिक लाभदायक हो जाती है तथा अपना प्रभाव शीघ्रता से करती है, उसी प्रकार हठयोग भी मधुविद्या के नाम से प्रसिद्ध है। यदि इसका सहयोग भी राजयोग तथा लययोग से कर दिया जाए तो अपना प्रभाव शीघ्र

करता है तथा सुगमता से शीघ्र ही परम सिद्धि की प्राप्ति करा देता है। केवल हठयोग तथा जपसहित हठयोग की क्या विशेषता है, अब इस विषय में समझें।

यदि जगत् से निराश हो एकान्त शान्त स्थान में किसी आसन से बैठकर श्वास का संयम करते हुए उसके साथ नाम का जाप किया जाए तो चलते–फिरते या सामान्य रूप से नाम जप करने से अधिक लाभदायक होगा। परन्तु केवल आसन लगाकर बैठने मात्र से शारीरिक श्रम तथा अहंकार के सिवाय शायद ही कुछ लाभ हो बल्कि साथ–साथ साधकपन का अभिमान और बढ़ता जाएगा तथा आसन की अधिकता होने से रोग का भी कारण बन जाता है। हां, एक लाभ अवश्य होता है कि ऐसे साधक में अधिक आराम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

अस्तु, श्वास को रोककर प्राण का संयम करते हुए नाम–जप के साथ प्राणायाम का अभ्यास किया जाए तो इन्द्रिय निग्रह तथा मन एकाग्र करने में अधिक सहायता मिलती है, जिससे ध्येय में लगने के योग्य चित्त की सूक्ष्म वृत्ति हो जाती है किन्तु जप तथा भाव से रहित केवल प्राणों को रोक रखने से वास्तव में कुछ ऐसा लाभ नहीं होता जिससे कि परमार्थ की प्राप्ति हो बल्कि विघ्न होने पर नाना प्रकार के रोग अवश्य हो जाते हैं तथा साधकपन के अभिमान से जड़–चेतन की ग्रन्थि और भी परिपुष्ट होती है। यह स्मरण रहे कि केवल हठयोग की ही ऐसी प्रक्रिया है कि प्राणायामों के न्यूनाधिक आधार पर धारणा, ध्यान, समाधि की अवस्था मान ली जाती है, अन्यत्र साधनों में नहीं।

आसन और प्राणायाम की दूसरी उपयोगिता यह है कि यदि उचित ढंग से किये जाएं तो शरीर को नीरोग तथा पुष्ट रखते है, शरीर में स्फूर्ति, कार्य–क्षमता तथा बुद्धि को भी सूक्ष्मतम बनाने में विशेष उपयोगी होते हैं, किन्तु इन क्रियाओं को किसी अभ्यासी से समझकर ही

करना चाहिए, नहीं तो वैदिक काम्यकर्मों की भांति जरा सी भी विपरीत कहीं गलती हुई तो लेने के देने पड़ जाते हैं।

ऊपर वर्णित दो भेदों से साधन–क्रम जो कि राजयोग तथा लययोग के नामों से कहा गया है, इनके विषय में पहले ही बताया जा चुका है कि इस 'दिव्य योग–साधन' के द्वारा दोनों प्रकार की सिद्धि सुगमता से प्राप्त हो जाती है। राजयोगी साथ–साथ हठयोग का भी सहारा ले लेवे तो सहायक रूप से वह भी उपयुक्त होता है लेकिन सावधान रहना परमावश्यक है क्योंकि सिद्धियां बड़ी ही विनाशकारिणी होती हैं।

साधक के परम लक्ष्य तक पहुंचने में विशेष बाधक सिद्धियाँ ही हैं, क्योंकि वे दोष रूप से नही बल्कि गुण रूप से सामने आती हैं। नाम स्मरण करने वाले साधक पर इनका कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। लययोग को हठयोग की क्रियाएं अधिक सहायक तो नहीं होती किन्तु मित परिमाण में करने से शरीर रक्षार्थ उपयोगी अवश्य होती हैं।

इस दिव्य योग–साधन की विशेषता यह है कि सभी योग इसी से सिद्ध हो जाते हैं और इसमें किसी भी प्रकार की बाधा के लिए स्थान नहीं होता, आवश्यकता केवल अपने कल्याण की उत्कट अभिलाषा की है।

तीन बातों का विशेषकर इस मार्ग मे प्रमुखतया स्थान है जिससे साधक निर्विघ्न थोड़े समय में समाधि का लाभ प्राप्त कर लेता है –

1. **भोजन क्रम** – अधिकांशतः साधक को दिन में एक बार ही शुद्ध सात्त्विक भोजन करना चाहिए, पुनः भूख लगने पर दूध अथवा फल ले सकता है। ऐसा नियम हो कि दिन में एक दो बार ही भोजन लेना है लेकिन आहार सात्त्विक होना चाहिए, मसालेदार चटपटी वस्तुएं प्रयोग नहीं करनी चाहिएं।

तीव्र गति से साधन के अभिलाषी साधक को चाहिए कि कुछ

दिन पूर्ण रूप से अन्न तथा नमक–मिर्च आदि का परित्याग कर दे। आहार में विशेष रूप से जौं, चावल आदि सात्त्विक अन्न, सब्जी के साथ लेना अधिक लाभदायक होता है, मीठे का भी सेवन कर सकता है किन्तु अधिक नहीं। सप्ताह में एक दिन का उपवास अवश्य करना चाहिए।

आवश्यक सूचनाएँ

साधक को आहार इतना कम भी नहीं करना चाहिए कि चलना अथवा जप आदि यौगिक क्रियाओं का करना भी मुश्किल हो जाए। बिल्कुल न खाना तथा शरीर को सुखाना यह आसुरी तप है, इससे अधिक लाभ नहीं होता। व्रत का जो विधान हम बता चुके हैं उससे साधक के लिए वही लाभ होता है जो कि हठयोगी को उसके नेती–धोती आदि षट्कर्मों से।

अधिक मेदा वाले साधक को कुछ काल तक व्रत कर लेने से अथवा नियमित आहार के साथ श्वास के द्वारा जप करने से नाड़ी शोधन की क्रिया स्वयं सम्पन्न हो जाती है। उसके द्वारा होने वाले फल की प्राप्ति भी संयमित आहार से साधक कर लेता है। यह आहार शुद्धि, शरीर शुद्धि या तन शोधन की उत्तमं क्रिया है।

(2) **मौन** – मौन का अर्थ अधिक लोगों के विचारानुसार चुप रहना ही प्रसिद्ध हो गया है, किन्तु चुप रहना ही मौन नहीं है, मौन का अभिप्राय है मित भाषण। साधक को उतनी ही बात करनी चाहिए जितनी कि उसके लिए परमावश्यक हो। व्यर्थ बातें मनोरंजन के नाम से करना जीवन की शक्ति का दुरुपयोग तथा अपव्यय करना है। काम करने की अधिक शक्ति का भी व्यय बातें करने से हो जाता है क्योंकि शक्ति का सम्बन्ध श्वास से है और बातें करने में श्वास की गति तीव्र होती है जिससे आत्मबंल, बुद्धिबल, मनोबल, शारीरिक बल और सब प्रकार की शक्ति का ह्रास होता है इसलिए आवश्यकतानुसार ही उचित मात्रा में

बातें करनी चाहिएं। यही सरल, सुगम, उत्तम मौन है। शेष समय में श्वासों के साथ नाम–जप करते रहना चाहिए। श्वास के साथ जप की विशेषता यह है कि उससे श्वास की गति सूक्ष्म तथा मन्द हो जाती है। यदि लोगों से संकोच न हो तो खाली समय में मध्यम स्वर से नाम–संकीर्तन करना भी साधन में सहायक होता है। छोटी माला साथ रखें रहे, खाली समय में उसके साथ जप करना भी लाभदायक होता है।

वैसे नाम–जप से जब मन हटे तो सुमरणी का प्रयोग करें। यदि उसमें भी मन न लगे तो प्रभु का नाम–संकीर्तन करते हुए भँवरवत् गुनगुनाते रहने या कोई पद्य गान करते रहने पर भी मन शान्त हो जाता है।

किसी भी मार्ग का योगी हो, अपने मार्ग के अनुसार पूर्व में सन्तो द्वारा जो उनके पद्य है, वे साधन में अधिक सहायक होते हैं। निर्गुण तथा सगुणपरक दोनों प्रकार के पद्य प्रचलित हैं। कोई भी ऐसा अनुभवी सन्त नहीं हुआ जिनके पद्य–रूप में विचार उपलब्ध न हों अतः अपने साधन के अनुसार ही पद्यों में पूर्व सन्तों के संकेत का स्मरण करना ही लाभदायक होता है। सप्ताह में किसी एक दिन का मौन, अधिक न हो सके तो थोड़ा थोड़ा करके कुछ घण्टों का मौन ले लेवें। इस प्रकार मित भोजन करके तन शुद्धि तथा मित भाषण से वाणी शोधन की क्रिया भी पूरी हो जाती है।

(3) मन शोधन – अब तीसरी प्रक्रिया है मन शोधन की। उसकी विशेष आवश्यकता ही नहीं अपितु मन का शोधन हो जाना ही योग की सारी सिद्धि का मूलाधार है।

ऊपर बताई हुई दोनों क्रियाएं तो इसी के अंगमात्र हैं। मनशोधन के लिए एकान्तवास करना अत्यन्त आवश्यक है। एकान्त का अभिप्राय अधिक लोगों से सम्बन्ध न करना अथवा न मिलना है। इसका अर्थ कहीं ऐसा न लगा लेना चाहिए कि वन में निवास करना ही एकान्त है। जिनसे

आवश्यकता हो उन्हीं से मिलने का तथा व्यवहार रखने का प्रयोजन रखें। मन से एक ध्येय का चिन्तन करना ही सच्चा एकान्त है।

कहीं भी रहें, कुछ भी करें, मन को एक इष्ट पद में लगाए रखें। उन्हीं की आशा हो, उन्हीं पर विश्वास हो तथा उन्हीं से सम्बन्ध हो, बस यही मन के शोधन की उत्तम विधि है। एक परम तत्त्व में ही जीवन का अन्त कर देना एकान्त कहा गया है। यदि साधक अधिक लोगों से बातचीत करना बन्द कर दे तो यह निश्चय है कि उसके पास लोगों का आना-जाना स्वयमेव बन्द हो जाएगा। वाणी ही व्यवहार को वृहद् तथा कम करने का साधन है।

उपर्युक्त मित आहार के द्वारा ही मित भाषण की तथा मित भाषण से ही एकान्त की सिद्धि हो जाती है। नाम-जप तथा उसके अर्थानुसार रूप चिन्तन से भी सभी प्रकार के योग की सिद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं।

साधक को चाहिए कि प्रातः तथा सायंकाल में बस्ती के बाहर शान्त, एकान्त स्थान में जाकर ध्येय का चिन्तन करे। जो बाहर न जा सके वह घर में ही कहीं अलग बैठकर या खड़े होकर नामजप तथा रूपचिन्तन कर सकता है।

विशेष बात

बैठने पर जिनका मन अधिक न लगता हो उन्हें एकान्त में जाकर ध्येय का चिन्तन करना चाहिए। खड़े-खड़े जप करने से भी शीघ्र मन शुद्ध हो जाता है, यह अनुभव सिद्ध है। मन के संयमित व एकाग्र हो जाने पर आसन विशेष की आवश्यकता नहीं रहती। वह किसी भी अवस्था में रहता हुआ, ध्येय में निमग्न रहता हुआ समाधिस्थ ही रहता है। इसी को सहज समाधि कहते हैं।

दिव्य योग साधन में किसी आसन विशेष की महिमा नहीं। ऊपर कहा गयां है कि जगत् से निराशा तथा दृढ़ आत्म–विश्वास ही आसन है। बस शरीर, वाणी तथा मन के शोधन हो जाने में ही आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार की सिद्धि है। बाद में अभ्यास की अधिकता से ध्येय में धारणा, ध्यान तथा तदाकारिता रूप समाधि सिद्ध होने में अधिक समय नहीं लगता।

नामानुसन्धान

दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन नामानुसन्धान है। यह रहस्यमयी विद्या बड़ी ही गोपनीय है इसलिए अधिक रूप से इसका प्रकाश नहीं हुआ है। योगेश्वर गुरुदेव की कृपा तथा उनकी प्रेरणा से इस रहस्यमय साधन को साधकों के लिए प्रकट किया जा रहा है।

नामानुसन्धान के लिए सर्वप्रथम किसी नामानुरागी, मन्त्र सिद्ध महापुरुष की शरण में जाकर इष्ट मन्त्र को प्राप्त करे तथा यम–नियम आदि का पालन करते हुए बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि करे। उसके साथ–साथ उस मन्त्र का पुरश्चरण कर लेना चाहिए। नामानुसन्धान के लिए केवल राम या ॐ यही दो शब्द उपयुक्त हैं। चाहे किसी भी इष्ट का उपासक क्यों न हो, उसे अपनी रुचि के अनुसार किसी एक को ग्रहण करना चाहिए। निर्गुण अथवा सगुण राम, कृष्ण, दुर्गा आदि किसी का भी उपासक हो, उसे ॐ या राम नाम से ही उनके परमतत्त्वों का वास्तविक बोध हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि सभी नाम एक ही परमात्म शक्ति के वाचक हैं, यह शास्त्र प्रमाण तथा अनुभव सिद्ध है।

नामानुसन्धान के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता एकान्त स्थान की है जहां किसी प्रकार की आवाज़ सुनाई न दे। बस्ती में रहने वालों के लिए जहाँ कोई कारखाना, गाड़ी अथवा मशीन आदि की ध्वनि न आती हो, ऐसी जगह पर इसका अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास के लिए उपयुक्त समय रात्रि में नौ बजे से प्रातः छः बजे तक होता है।

यह ध्यान रहे कि साधन के लिए विशेष रूप से आश्विन नवरात्रि से प्रारम्भ कर चैत्र नवरात्रि तक का समय अधिक उपयुक्त होता है। यदि

शीत देश में रहना हो तो बारह मास ही किया जा सकता है, कारण यह है कि सर्दी में ही उचित रूप से साधन हो सकता है। इस समय किसी प्रकार के रोगादि का भय नहीं रहता क्योंकि उस समय शरीर की अग्नि प्रज्वलित रहती है। गर्मी के समय में शरीर की अग्नि मन्द पड़ जाती है इसलिए रोगादि होने का भय रहता है। अत: साधन के लिए शान्ति तथा शीतकाल का समय ही उपयोगी समझना चाहिए।

साधक को चाहिए कि जहा पर अशुद्ध वायु तथा अधिक वायु का आगमन न हो, ऐसे एकान्त स्थान में शान्त चित्त से बैठ जाए। साधन में शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने के लिए उपयुक्त स्थान की विशेष आवश्यकता है।

साधन के लिए उपयोगी स्थल ऊँचे स्थान पर छोटी कुटिया अथवा गुफा होनी चाहिए जिससे वहाँ पर गन्दी तथा अधिक वायु न जा सके, यही स्थान की उपयुक्तता है। यदि ऐसा स्थान सभी को सुलभ नहीं हो सकता तो दिव्य जीवन की प्राप्ति भी सभी को नहीं होती। जिसकी उत्कट अभिलाषा होती है उसके लिए ईश्वरीय विधान से उचित स्थान उपलब्ध हो जाता है।

हां, यदि कहीं पवित्र स्थान हो तो नीचे भी छोटे दरवाजे की कोठरी बनाकर यह अभ्यास किया जा सकता है। साधक को चाहिए कि वह परम सिद्ध स्वस्तिक अथवा भद्रासन आदि में से किसी भी एक आसन से शान्तचित्त होकर बैठ जाए। बैठने के लिए नीचे छोटी गद्दी तथा उसके ऊपर मृगचर्म आदि होना चाहिए जिससे बैठने में किसी प्रकार का कष्ट अनुभव न हो। अधिक देर तक बैठने से नीचे की गर्मी के कारण बवासीर आदि रोग होने की सम्भावना होती है इसलिए मृगचर्म की विशेष उपयोगिता है। इससे इस प्रकार के रोगों का भय नहीं रहता।

साधक को चाहिए कि शान्त चित्त से बैठकर प्राणायाम करे। कम से कम पांच तथा अधिक से अधिक चौबीस बार प्राणायाम करे, इससे अधिक नहीं करना चाहिए।

साधन के प्रारम्भकाल में खान–पान की विशेष सुविधा होने पर ही इतने प्राणायाम किए जा सकते हैं। अभ्यास हो जाने पर तीन अथवा पांच बार ही प्राणायाम करना पर्याप्त होता है।

साधक को प्राणायाम के साथ–साथ सदैव मन का सम्बन्ध रखना चाहिए तथा मानसिक जाप भी करना आवश्यक है। मनुष्य का शरीर एक प्रकार से नाड़ी–जाल का ही समूह है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहां पर सूक्ष्म नाड़ियों का अभाव हो। सारे शरीर में बहत्तर करोड़ नाड़ियों का वर्णन उपनिषदों में आता है। सूक्ष्म नाड़ी तन्तुओं से सारा शरीर व्याप्त है–इसमें सन्देह नहीं, यह अनुभव सिद्ध है। नाभि प्रदेश से एक सौ नाड़ियां शरीर में फैली हैं। उन एक–एक से पुनः सौ सौ नाड़ियां और उन एक–एक के बहत्तर हज़ार नाड़ी तन्तुओं का पसारा ही इस सारे शरीर में हुआ है, ऐसा पूर्व के ऋषियों का मत है।

खाया हुआ पदार्थ रस बनकर उन्हीं नाड़ी तन्तुओं के द्वारा सारे अंगों में समान वायु से प्रेरित हो व्यान वायु की गति द्वारा पहुंचाया जाता है। व्यान वायु की गति सम्पूर्ण शरीर में है या यूँ कहिये कि जिस वायु के द्वारा सम्पूर्ण शरीर रक्तमय तथा सजीव दीखता है, वह व्यान नाम से कही जाती है। इससे अभिप्राय है कि सम्पूर्ण नाड़ी जाल में वायु की गति है और शरीरस्थ वायु का मूल केन्द्र नाभि प्रदेश है। प्राणायाम के अधिक अभ्यास से इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इसमें सन्देह नहीं।

नामानुसन्धान करने वाले साधक को चाहिए कि प्राणायाम के द्वारा प्राण की गति को सूक्ष्म करके नाभि से थोड़ा सा नीचे जहां कि परावाणी का स्थान है वहां पर ले जाए।

सभी प्रकार के शब्दोच्चार का मूल स्थान परावाणी ही है परन्तु यह बात बिना साधन किए सभी की समझ में नहीं आती। साधक को चाहिए कि परावाणी से ही श्वास के साथ सतत शब्दोच्चारण का अभ्यास

करे। पहले मुख बन्द करके लम्बा श्वास लेता हुआ संकल्प के द्वारा मूल स्थान से भावना करते हुए उच्चारण करता रहे। जब नाम जप के द्वारा प्राण सूक्ष्म हो जाए और कुछ समय तक रुकने लगे, तब ऐसी भावना करनी चाहिए कि समस्त शरीर में विचरण करने वाली व्यान वायु के साथ शब्द का सम्बन्ध होने लगा है। संकलप के द्वारा इस प्रकार नाभि प्रदेश में नाम के मानसिक जप का ध्यान करने से थोड़े ही दिनों में यह अनुभव होने लगता है कि शरीर के प्रत्येक अंग से नाम की ध्वनि निकल रही है।

सतत मौन हो ध्यान के द्वारा समस्त अंगों से नाम की ध्वनि हो रही है, ऐसा अनुसन्धान करते रहना चाहिए। कुछ दिनों के बाद ही उसमें चित्त ऐसा रम जाएगा कि चाहते हुए भी बाह्य वृत्ति नहीं होगी। कुछ दिनों के बाद ही शरीर के रोम–छिद्रों से बाहर भी ध्वनि आने लगेगी तथा ऐसा प्रतीत होगा कि समस्त शरीर से दिव्य ज्योति निकल रही है। सारा शरीर प्रकाशमय हो जाएगा तथा भौतिक सिद्धियों का भी प्रवाह उमड़ पड़ेगा।

संकल्प शक्ति तो ऐसी हो जाती है कि जो चाहो वही सामने आ जाता है तथा जिसे चाहो अपना बना सकते हो। उस अवस्था में न चाहते हुए भी वाणी से स्वयं कविता का प्रवाह बहने लगता है। आज जो कुछ सन्तों के अनुभव पद्य रूप में विद्यमान हैं वे सभी उसी अवस्था में विनिःसृत हुए हैं।

साधक की यह एक अवस्था विशेष है। इसके बादं समझने की बात यह है कि इस अवस्था विशेष को प्राप्त करके ही साधन में साधक सन्तुष्ट न हो जाए क्योंकि इसके भी परे जाने पर वास्तविकता का बोध हो जिसे परमानन्द की प्राप्ति भी कहा जाता है। ऊपर कही हुई स्थिति को ही भजनानन्द या नामानन्द के नाम से सन्तों ने वर्णन किया है।

अब इसके अनन्तर साधक को बड़ी सावधानी के साथ आगे बढ़ना चाहिए। नाभि प्रदेश से चलने वाली सौ नाड़ियों की चर्चा हम

ऊपर कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त एक नाड़ी और है जो कि हृदय प्रदेश से चलकर तालु के ऊर्ध्व स्थान से होती हुई चित्ताकाश को पार करके सीधी ब्रह्मरन्ध्र में जाती है। इसी को सुषुम्ना कहते हैं।

उपर्युक्त विधि से लम्बे श्वास के साथ नाम का उच्चारण करते हुए ध्यान के द्वारा साधक को अपनी नादमयी शक्ति उसी सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधक को चाहिए कि वह ऐसी भावना करे कि हमारे सारे शरीर से होने वाले प्रकाशमय शब्द की गुंजार मूल स्थान हृदय–प्रदेश में सिमटकर सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर रही है। इस प्रकार बार–बार संकल्प के द्वारा अभ्यास करने से संकल्पमय प्राणवायु सारे शरीर से तेज को समेटकर सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने लग जाएगी।

यह बात स्मरण रहे कि प्राणायाम के द्वारा सूक्ष्म की हुई प्राणवायु को संकल्प के माध्यम से किसी भी अंग में ले जाया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं, यह अनुभव सिद्ध बात है क्योंकि मन और प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां मन जाएगा, वहां प्राण की गति स्वयं हो जाएगी।

ऊपर कहे हुए अभ्यास को कुछ काल तक करने से निर्विकल्प समाधि स्वयं हो जाती है। कुण्डलिनी की जागृति तथा चक्र भेदन यह सभी शब्द योग से सुगमता के साथ हो जाता है। उनके लिए कोई कठिन साधन की आवश्यकता नही होती। ऊपर जो प्राणायाम के विषय में कहा गया है वह लम्बे श्वास के साथ नाम–जप करने से स्वयमेव सिद्ध हो जाता है किन्तु यदि साधक नित्यप्रति नियमित रूप से थोड़ा प्राणायाम का भी अभ्यास किया करे तो वह साधन में शीघ्रता के लिए सहायक सिद्ध होता है।

नामानुसन्धान में किसी भी प्रकार के विघ्न की आशंका नहीं रहती, न शरीर को कष्ट देने की ही। इसमें शरीर रक्षा के लिए सात्त्विक आहार की महिमा नहीं है। इस अभ्यास में वृत्ति शान्त रहती है। सदैव एक

प्रकार की आनन्दानुभूति भी होती है। सभी प्राणियों में सम रूप से प्रेम की भावना बनी रहती है। दिव्य शब्द, रस, स्पर्शादि स्वतः अनुभव होते रहते हैं। अभिमान के लिए भी स्थान नहीं रहता।

सद्‌गुण तो नामानुसन्धानी साधक में स्वाभाविक होते हैं। साधन काल में कभी–कभी इष्ट देव का प्रकाश तथा विह्वलता आदि सात्त्विक लक्षण प्रकट होते रहते हैं।

यह नामानुसन्धानरूपी योग बड़ा ही सरल तथा शीघ्र सिद्ध होने वाला है। किसी अनुभवी महात्मा से जानकारी प्राप्त कर इस साधन में लग जाए तो जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाए, इसमें सन्देह नहीं।

नामानुसन्धानी सिद्धि प्राप्त सन्तजन जगत् में जीवों के कल्याणार्थ सतत उनके हित के लिए विचरते रहते हैं। लोकोपकार उनका स्वभाव होता है। सभी प्राणियों का कल्याण हो ऐसी उनकी उत्कट अभिलाषा होती है। यह सारा जगत् मिथ्या है तथा सब दुःख के ही स्वरूप हैं, ऐसा उन्हें भ्रम नहीं रहता।

विशेष महिमा इस नामानुसन्धान के साधन में यह है कि यदि इसमें साधक सतत रत रहे तो उसका यह पंचभौतिक शरीर दिव्य शब्दमय हो सूक्ष्म हो जाता है, देखने में स्थूल होते हुए भी स्थूल नहीं रहता क्योंकि सभी स्थूल तत्त्वों का कारण सूक्ष्म है अतः सभी कार्य कारण में लय हो जाते हैं। शब्द ही अन्य सभी स्थूल तत्त्वों का कारण है।

शब्दमय शरीर हो जाने पर दिव्य अवतारों की भाँति वह साधक भी पंचभौतिक शरीर वाला नहीं रह जाता तथा अन्त में शब्दमय होकर ही परमात्मा में लय हो जाता है जैसे मीरा, चैतन्य, नरसी आदि भक्तों के प्रमाण सामने हैं। ये सभी नामानुसन्धानी थे।

❋✧❋★❋

✧❋★❋

दिव्य सन्देश

प्यारे! समझने से साधन समझ में आता है और उसे करने से शान्ति मिलती है। श्रद्धा से करने में प्रवृत्ति होती है और दृढ़ता से सफलता मिलती है। सर्वत्र एक ही सत्ता काम कर रही है। सम्पूर्ण जीव तथा जगत् उसी का स्वरूप हैं, यह साधन से जाना जाता है। प्रभु तो अनन्त कर–कमलों को फैलाए बाट देखते हैं कि कोई मेरा लाल मेरी गोदी में आ जाए, पर दासी की गोद प्रिय लगती है इसलिए जीव छोड़ता नहीं। सन्त जगत् के नातों से रहित होते हैं, उनसे संकोच करना भूल है। वे सभी प्राणिमात्र के स्नेही होते हैं इसलिए उनके निकट जाकर पूर्णरूप से जीवनोपयोगी साधन समझ लेना चाहिए।

सफलता और सिद्धि की प्राप्ति में श्रद्धा ही मूल कारण है। अभ्यास ही आसक्ति का हेतु है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। किसी कार्य को बार–बार करने को अभ्यास कहते हैं। मन बहुत दिनों के अभ्यास से संसार में आसक्त हो गया है। यह आसक्ति उसके प्रतिकूल प्रभु का चिन्तन करने से ही नाश होगी। बहुत दिनों की आसक्ति एक दिन या एक महीने में नहीं जाती इसलिए भजन में मन न लगने से घबराना नहीं चाहिए। भजन करते–करते मन के विकार नाश हो जाने पर वह स्वयं प्रभु में लग जाएगा। जैसे बच्चे को मां जब पहले अन्न खिलाती है तो बच्चा उसे मुंह से बाहर फेंक देता है परन्तु बार–बार हठ करके खिलाने से एक दिन ऐसा आ जाता है कि वही बच्चा बिना अन्न के नहीं रह सकता तथा अन्न को प्राप्त करने के लिए अनेकों प्रकार के यत्न करता है क्योंकि वह

अन्न अब उसके जीवन का आधार होता है। ठीक यही दशा मन की समझनी चाहिए। पहले तो मन भजन में नहीं लगता लेकिन बार–बार अभ्यास करने से एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि भजन न होने पर वह घबराता है और भजन करना उस मन का स्वभाव बन जाता है। उस अवस्था में जगत् से वृत्ति हटकर स्वयं ही भगवान् में लग जाती है। वृत्ति की एकाग्रता को ही जगत् से मुक्ति कहते हैं और तभी भगवान् में अखण्ड प्रेम होता है।

प्यारे! सबसे बड़ा साधन प्रभु नाम का जप और भावानुसार उनके स्वरूप का चिन्तन है। इसके लिए समय विशेष का बन्धन नहीं। भला 23 घण्टे सांसारिक कार्यों में लगाकर एक घण्टे के लिए साधन करने बैठ जाए तो मन एकाग्र कैसे होगा? इसके लिए तो जीवन में साधन न कर जीवन को ही साधन बनाना होगा। जीवन को साधनमय बनाने के लिए कुछ समय प्रातःकाल बैठकर ध्यान के साथ नाम–जप करता रहे, चाहे जिस किसी दशा में हो। पवित्रता तथा अपवित्रता का विचार न करे क्योंकि प्रभु को केवल प्रेम प्रिय है। शरीर से तो कोई भी किसी काल में पवित्र हो नही सकता। सांसारिक लोग तो साधक को आगे बढ़ने से पीछे की ओर खींचते हैं, इसलिए उनकी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

प्यारे! प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा ही समस्त कार्य हो रहा है किन्तु गुण जड़ हैं, उनमें कर्त्तापन कैसा? इसका उत्तर गीता के 13वें अध्याय के 20–22 वें श्लोक में बताया गया है कि पुरुष जब अविद्या के वशीभूत होकर गुणों में स्थित होता है तो आत्मा की सत्ता से गुणों में क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है और इसी रूप से जीवात्मा के प्रकाश में गुणों द्वारा कर्म होते रहते हैं। बिना प्रकाश के गुण जड़ तथा बिना यन्त्र के प्रकाशक शक्ति भी प्रकाश के सिवाय क्रियाहीन है। अतः आत्मा कर्त्ता

नहीं है, ऐसा कहा जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में होने वाले कर्मों में सूर्य को कर्त्ता–भोक्ता आदि नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार शरीररूपी जगत् में आत्मा को कर्त्ता आदि नहीं कहा जा सकता। शास्त्रों मे कहा गया है कि सूर्य की उपस्थिति में जो कार्य होते हैं उनका वह साक्षी है। जैसे सूर्य की अनुपस्थिति में जगत् का अस्तित्व क्षणमात्र भी नहीं रह सकता, वैसी ही अवस्था चेतन तथा शरीर की समझनी चाहिए।

प्यारे! अविद्या के आवरण से ज्ञानशक्ति का लोप हो गया है, जिसके फलस्वरूप अज्ञानता के नाते जीवात्मा निज प्रकाश स्वरूप को भूलकर इन्द्रिय गुणों में होने वाली क्रियाओं को अपने में आरोपित कर लेता है और उन्हें स्वीकार किये हुए कर्मों के फल को भोगता हुआ नाना प्रकार की योनियों में भटकता रहता है। वास्तव में आत्मा कर्त्ता–भोक्तापन से रहित है।

प्यारे ! 'विभु–विभव–भेद त्रिकाल है'– विभु समुद्र है तथा विभव उसकी लहरें हैं। यद्यपि तत्त्वतः समुद्र तथा उसकी लहरों में जल के सिवाय और कुछ नहीं है फिर भी व्यावहारिक दृष्टि मे 'समुद्र तथा उसकी लहरें' का भाषा भेद तो बना ही रहता है। इसी रूप से समुद्रवत् परमात्मा व लहरवत् जीवात्मा तत्त्वतः एक होते हुए भी व्यवहार दृष्टि में इनका भेद बना ही रहता है। मुक्त आत्मा जिसने कि अविद्या का नाश कर स्वयं को पहचान लिया है, वह त्रिपाद विभूति भगवान् के दिव्यलोक में स्थित हो सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। यह पहले बता दिया गया है कि ईश्वर और जीव में तत्त्वतः भेद नहीं। निज स्वरूप का बोध प्राप्त होना ही मुक्ति है। उसे ढूंढना नहीं, वह तो अपना आप है किन्तु अविद्या से आच्छादित होने से उसकी अनुभूति नहीं होती। ईश्वर भजन से अविद्या दूर होती है और जीव निज स्वरूप को जान लेने पर मुक्त कहा जाता है। साधन में बाधा डालने वाले तत्त्वों का सर्वथा

त्याग कर देना चाहिए और सावधानी के साथ सतत मन का निरीक्षण करते रहना चाहिए क्योंकि कहीं साधन के नाम पर मन धोखा न दे दे।

प्यारे! सबसे पहली बात यह है कि साधक को शरणागति के नाम पर अकर्मण्यता नहीं अपनानी चाहिए क्योंकि जीवात्मा उस खिलाड़ी के खेल की सामग्री है। प्राकृतिक विधान से जो उसे अभिनय प्राप्त हुआ हो, उसे पूर्ण करना ही उसका कर्त्तव्य है। तत्त्वज्ञान होने पर भी शरीर के द्वारा कार्य करना ही श्रेष्ठ है। किसी भी प्रकार के पद–पदार्थ की आकांक्षा न होते हुए भी लोक–हितार्थ उचित कर्म का अनुष्ठान करते हुए पूर्व में महापुरुषों ने हमारे लिए पथ–प्रदर्शन किया है। उनका एक–एक वचन कल्याण का हेतु हो सकता है, यदि उनका पूर्ण रूप से पालन किया जाय।

प्यारे! 'तत्त्वमसि' यह सामवेदीय महावाक्य है। गुरु शिष्य को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हुए कह रहा है कि 'तत्'–वह ब्रह्म, 'त्वं'–तू चेतन, 'असि'– है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि जिस ब्रह्म को वेद 'नेति नेति' कहकर गान करता है तथा जो जगत् का आधार है, जिसमें जगत् सीपी में चांदी के समान भासित हो रहा है, जो ज्योतियों की भी परम ज्योति है, ऐसा जो ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो। तुम्हारी चेतन सत्ता के सिवाय ब्रह्म अन्य कोई तत्त्व नहीं। वह ब्रह्म, यह जीवात्मा कैसे? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्व के आचार्यों ने बहुत कुछ समझाया है। महात्माओं ने इसका अनुभव किया है इसलिए इसमें सन्देह का ज़रा भी स्थान नहीं, किन्तु जब तक अन्तःकरण में मल, विक्षेप और आवरण साधन के द्वारा पूर्ण रूप से मिट न जाए तब तक यह बात समझ में नहीं आती। अतः साधनहीन व्यक्ति को ब्रह्म की एकता का उपदेश करना उसके लिए हानिकारक है।

प्रज्ञा उस बुद्धि को कहते हैं जो सत्–असत् विवेक से परिपूर्ण हो जाती है। वह बुद्धि जिस साधक में पूर्ण रूप से स्थित हो जाती है, उसे

स्थितप्रज्ञ कहते हैं अथवा जिसकी बुद्धि एक ब्रह्म के सिवाय अन्य भावों का विषय नहीं करती, वे स्थित प्रज्ञ कहे जाते हैं। ऐसी बुद्धि की प्राप्ति के विषय में भगवान् ने अर्जुन को कहा था कि जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ से पार होगी, तब तू इस अवस्था को प्राप्त होगा। इसी पर अर्जुन का प्रश्न था कि स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है? उत्तर में भगवान् ने सहज समाधि अवस्था को प्राप्त हुए महापुरुषों के जीवन का वर्णन किया है जिसको योगी की सहज अवस्था कहा जाता है। वही भक्तों की पराभक्ति की स्थिति है। इसी को गीता में योगी, गुणातीत आदि नामों से कहा गया है।

प्यारे! कारण पाकर क्रोध आना मानव का स्वभाव है, अकारण क्रोध करना दानव का और कारण पाकर भी क्रोध न आना सन्त का लक्षण है। जब तमोगुण के द्वारा प्रमाद आता है तब मानव में अकर्मण्यता आ जाती है। जीव तो अहंता, ममतावश कर्तृत्व अभिमान में व्यर्थ ही फंसा है। वास्तव में तो वह दोनों से परे है। पूर्ण समर्पण के बाद ऐसी अवस्था आती है जबकि यह निश्चय होता है कि मैं केवल प्रभु की क्रीड़ा का सामान मात्र हूँ, तत्त्वतः मेरे में काम–क्रोध तथा पाप–पुण्य कुछ भी नहीं हैं।

प्यारे! मानव के न करने की रुचि रखते हुए भी बहुत से कर्म हो जाते हैं और करने की चेष्टा होते हुए भी बहुत से कार्यों को वह नहीं कर पाता, कारण कि इस शरीर द्वारा उतना ही कार्य पूर्ण होता है जितना कि प्रारब्धानुसार निश्चित है। यह कहा जा सकता है कि जब अनिश्चित कार्य होगा ही नहीं तो मानव हाय–हाय क्यों कर रहा है? तो प्यारे! यह बात सही है कि शरीर के द्वारा निश्चित कार्य ही पूर्ण होगा, फिर भी मानव की शक्ति शरीर तक ही सीमित नहीं है। यह तो केवल स्थूल शक्ति का आधारमात्र है। महाशक्ति जो कि मानव की अपनी सम्पत्ति है, वह मानसिक आधार पर आधारित है, उसका कोई और दाता तथा मालिक नहीं है।

प्यारे! जैसे पिता पुत्र का मालिक नहीं, वह उसका अपना आप होता है और उसकी समस्त सम्पत्ति होती है, इसी तरह परमपिता परमात्मा जीवों का शासक नहीं,वह उनका अपना आप है तथा उसकी अनन्त शक्ति उनकी अपनी सम्पत्ति है। उसके लिए किसी क्रियाविशेष की आवश्यकता तो केवल उसे जानने की है। शारीरिक भोग कर्मफ़ल पूर्ण होने पर स्वयं समाप्त हो जाएंगे। इनसे कब तक छुटकारा मिलेगा, साधक को इस पर विचार नहीं करना चाहिए। उसके लिए केवल प्रारब्धानुसार जीवन में आई हुई सम–विषम परिस्थितियों का निराकरण करते हुए लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना ही उचित है। जो बिना चाहे हो रहा है, उससे सम्बन्ध नहीं जोड़ना तथा जो स्वयं नहीं हो रहा, उसके लिए अधीर नहीं होना, यही जीवन विधान का सत्य स्वरूप है। प्रभु ही पूर्ण हैं। मैं प्रभु का हूँ, ऐसी दृढ़ धारणा ही पूर्ण बनाने में समर्थ है। प्रभु वही है जो कि अपना सच्चा पिता है। संसार के सामने झुकना साधक के लिए कलंक है। संसार का अर्थ कोई व्यक्ति नहीं, भोग तथा उसकी कामना है और यह एक महान् रोग है जिससे जगत् में सभी जीव व्यथित हैं। इस रोग से छुटकारा पाने के लिए भगवनाम स्मरण ही परम औषध है।

प्यारे! सेवा भाव आने पर मानव स्वयं शिव रूप हो जाता है क्योंकि शिव वही है जो किसी से कुछ चाह न रखते हुए, उसकी पूर्ति में सहायक हो। यह दशा तब होगी जबकि अपनी चाह पूर्ण रूप से मिट जायेगी। हम भौतिक पदार्थों के द्वारा किसी व्यक्ति की कमी को मुश्किल से कुछं काल के लिए ही दूर कर सकते हैं, सदा के लिए नहीं। किसी 'की कमी को सदा के लिए मिटाना मानव के वश की बात नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विचार करने से ही सत्य का बोध होता है।

प्यारे! इच्छाओं की पूर्ति यद्यपि सर्वथा असम्भव है किन्तु उनकी निवृत्ति असम्भव नहीं दुर्गम अवश्य है। त्याग प्रेमयुक्त हो। विवेक के

उदय में किसी भी प्रकार की चाह बाकी नहीं रहती और चाह के अभाव में कमी का स्थान कहाँ? वह कुछ काल के लिए ही नहीं अपितु सदा के लिए मानव से विदा हो जाती है। इससे यह निश्चय होता है कि किसी भी प्रकार से मानव में त्याग, प्रेम व विवेक को जागृत करना ही सच्ची सेवा है। हृदय में समष्टि के लिए हितप्रद विचार तथा प्राप्त शक्ति का सदुपयोग, यही सेवा का सुन्दर मार्ग है। दृढ़ विश्वास से ही त्याग, प्रेम तथा विवेक की प्राप्ति सम्भव है। प्रभु हमारे तथा हम प्रभु के हैं, ऐसी दृढ़ धारणा रखते हुए अपने को तथा साथियों के जीवन को सुपथ पर अग्रसर करना ही मानवोचित कर्त्तव्य है।

प्यारे! परमपिता सर्वरूप से सर्वदा, सर्वत्र विराजित हैं। उनको किसी विशेष आकार–प्रकार में आबद्ध करना विवेक का विरोध है। जीवन डोर उनके हाथों में समर्पित कर निश्चिन्त हो जाओ। जीव सहित जगत् प्रभु की क्रीड़ास्थली है। जिस खेल से प्राणधन प्रियतम को प्रमोद प्राप्त होता है, प्रकृति मां उसी का विधान करती है। हम प्रभु का प्रमोद करने में अभिनय के पात्र हैं, यह समझ सदैव प्रसन्न रहना चाहिए, यही भक्त का जीवन है। जो हुआ है, जो होता है और जो होगा सब उचित है। मैं और मेरेपन का भाव त्यागकर साधन पथ में आगे बढ़ो। जब जीव शिव की शरण ले लेता है तब साधन किया नहीं जाता, वह तो स्वय उसका जीवन बन जाता है। उस क्षण से सामान्य कर्म भी महान् साधन हो जाते हैं और जीव शिव से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है। प्रारब्धवश शरीर का उपयोग भले ही होता रहे, भक्त आसक्त नहीं होता है।

प्यारे! भाव ही भगवान् का स्वरूप है। हम तुम सहित सम्पूर्ण विश्व उनका ही स्वरूप है, इस भाव को निश्चय कर कृतकृत्य हो जाओ। प्राणधन प्रियतम की प्रीति की कमी का अनुभव कर व्याकुलता प्रकट करो और उस अग्नि में शुभ–अशुभ वासनाओं को भस्म कर हृदय को

पुनीत कर लो, जिससे वे बिना बुलाए ही आने के लिए मजबूर हो जावें। उनका कथन है 'जो मुझसे प्रेम करते हैं, उन्हें मैं प्यार करता हूँ और जो मेरे आश्रित हैं, उनकी सदा संभार करता हूं।

प्यारे! फल की आशा छोड़कर मानवोचित कर्त्तव्य करना तुम्हारा धर्म है क्योंकि फल तो उचित रूप से प्राप्त होगा ही। कर्म के अनुकूल फल की प्राप्ति तो प्राकृत विधान से निश्चित है किन्तु प्रभु–कृपा के आश्रित जीवों का कुछ और ही प्रकार का जीवन होता है। वहां तो विधानकर्त्ता विधाता की बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है, दूसरों की बात ही क्या? प्रभु के विश्वासी प्रेमी कभी भी अनुकूलता की बाट नहीं देखते। उनका विश्वास होता है कि प्रभु वही करेंगे जो मेरे लिए हितप्रद होगा। मानव जीवन में व्यथा के लिए कोई स्थान नहीं। बीती को बिसारकर आगे की संभाल करना ही मानव का कर्त्तव्य है। प्रभु प्रेम ही जीवन है। प्रत्येक क्षण प्रभु स्मरण करना सब साधनों का मूल है। जीवन को सदैव सुपथ पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्यारे! नरक के तीन दरवाज़े हैं – काम, क्रोध और लोभ। इनमें से किसी भी एक के वश में होकर मानव धर्म तथा अधर्म के विवेक को भूल जाता है और न करने योग्य कार्य को भी कर देता है। अतः इन महान् शत्रुओं से बचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि इनसे अपना ही विनाश होता है। कर्त्तव्य पालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद सबसे महान् शत्रु है इसलिए इससे सावधान रहो। सत्संग का अभिप्राय यह नहीं कि अपने कर्त्तव्य का ही त्याग कर दिया जावे। भगवान् की उपासना करते हुए किसी भी प्रकार से प्रमाद न कर, जीवन के शेष समय का सदुपयोग करते हुए भगवत्कृपा के सहारे जीवन में सदा आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवत्प्रेम का जब उदय होता है तब वह सम्पूर्ण सांसारिक कर्मों से मुक्त कर देता है। साधन में सावधानी की

सबसे बड़ी महिमा है। आत्मबल ही सबसे श्रेष्ठ बल है। जिसमें आत्मशक्ति हो वही कर्त्तव्य है। अपनी रक्षा स्वयं से ही होती है। अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए आगे बढ़ना प्रत्येक मानव का धर्म है। प्रतिकूल परिस्थिति का निर्माण तो मन की महिमा से होता है। भजन का सम्बन्ध आन्तरिक भाव से है, शरीर से नहीं। जीवन का भार प्रभु पर निर्भर कर प्रतिक्षण हृदय से भगवत्–स्वरूप का चिन्तन करना ही सच्ची भक्ति है। बाहरी दिखावे से कुछ नहीं होता, यही सद्गुरुओं की सीख है। साधन में बाधक की पूर्ण रूप से उपेक्षा करनी चाहिए। यदि उसकी उपेक्षा से व्यवहार में त्रुटि आती हो तो मन से अवश्य ही उसका त्याग कर देना चाहिए। व्यवहार को गौण तथा भगवत् प्रेम को जीवन में प्रमुख स्थान देना चाहिए।

प्यारे! आत्मा में लोभ, क्रोध, मोह आदि किसी भी प्रकार का विकार नहीं। जहां इनकी गाथा गाई जाती है, वह त्रिगुणात्मक चित्त की महिमा है। माया के सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से क्रोध की उत्पत्ति होती है। इसमें गुणानुसार संग तथा आहार–विहार ही उनकी वृद्धि के कारण होते हैं। काम–क्रोध आदि से बचने के लिए साधक को रजोगुणी पदार्थों का त्याग करना चाहिए। जिससे बुरे विचार पैदा होते हों ऐसी वस्तु तथा व्यक्ति का संग अनुचित है। सात्त्विक खानपान, सत्पुरुषों का संग, सद्ग्रन्थों का पठन–पाठन, भगवान् की उपासना तथा नाम–स्मरण आदि उनसे बचने के उपाय हैं। दूसरे के ऊपर दोषारोपण करना अथवा किसी की निन्दा करने के समान और दूसरा कोई पाप नहीं है। परनिन्दा करनेवाले व्यक्ति की ऐसी स्थिति है जैसे एक व्यक्ति टोकरी व झाड़ू लेकर घूमता रहता है तथा दूसरे के मल को झाड़ू के द्वारा टोकरी में भर लेता है और उसे किसी खड्डे में डाल देता है। उसी प्रकार निंदक व्यक्ति दूसरे के दोषरूपी मल को अपनी जिह्वारूपी झाड़ू के द्वारा मुखरूपी टोकरी में लेकर अपने अन्तःकरणरूपी

गढ़े में डाल देता है और उसके द्वारा जब अन्दर सडांध आती है तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, तब वह नाना प्रकार के दु:खों का शिकार होता है। अस्तु, निन्दा के समान अन्य कोई महान् पाप नहीं। सन्त तुलसीदास जी का भी सन्देश है – ''पर निन्दा सम अघ न गिरीसा''।

प्यारे ! सुन्दर जीवन का निर्माण सत्पुरुषों के प्रकाश में ही सम्भव है। सत्पुरुषों का अभिप्राय उन महापुरुषों से है जो संसार से विमुख हैं तथा कल्याण पथ पर अग्रसर हुए हैं, जिनके दर्शन एवं सत्संग के द्वारा विषयों से वैराग्य तथा प्रभु चरणों में प्रेम उत्पन्न होता है। उनकी आज्ञानुसार चलकर ही जीव शिव की प्राप्ति कर सकता है। सदैव प्रभु की स्मृति ही अखण्ड जप है। जब सभी कार्य प्रभु के नाते उनकी आज्ञा समझकर किए जाएं तो प्रमाद से रहित हो, मानव प्रसाद का अधिकारी होता है। स्वतन्त्रता सुखदायी तथा स्वच्छन्दता मानव के लिए दु:खदायी व विकास में बाधक है। प्रभु दूर नहीं हैं, वे हमारे सभी कृत्यों को देख रहे हैं, ऐसा सदैव साधक को ध्यान रखना चाहिए। ईश्वर पर दृढ़ विश्वास दु:ख से बचने का सुन्दर उपाय है। भजन न करने वाले से भजन करने वाला व्यक्ति उतना ही श्रेष्ठ है जितना कि मृत से जीवित। जगत् से अरुचि तथा जीवों से प्रेम ही कल्याण का मार्ग है।

प्यारे! मानवमात्र के जीवन का लक्ष्य है कुछ न चाहते हुए पूर्ण रूप से प्रभु का हो जाना। परमपिता के मंगलमय विधान का स्वागत करते हुए उनकी आज्ञानुसार निज कर्त्तव्य का पालन करना ही इसके लिए साधन है। जो प्रभु का प्यारा है, उसे निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्वयं प्राप्त होती है। प्रेम किसी के देने से या किसी के द्वारा नहीं प्राप्त किया जाता, वह तो अपना ही स्वरूप है। जहां अपनापन होता है, वहां स्वत: अनुराग हो जाता है। प्रत्येक कार्य की प्रवृत्ति सतत अपने कारण की ओर ही होती है। जीव महान् तथा ईश्वर का अभिन्न अंश है, अविद्या के कारण ही बुद्धि में भ्रम

उत्पन्न होता है, जिससे अपने में कर्त्ता तथा भोक्तापन को आरोपित कर दु:खी व सुखी होता रहता है। जन्म से पहले ही विद्या, धन, पूर्व के किए शुभाशुभ कर्मों का भोग, मृत्यु का कारण और आयु, ये पांच बातें निश्चित हो जाती हैं। इसके लिए निमित्त–मात्र भले ही कोई दूसरा हो जावे, मूल में तो अपने किये कर्म ही होते हैं।

प्यारे! प्रभु का प्यारा कभी अनुकूल परिस्थिति की चाह नहीं करता। देश, काल, परिस्थिति का अध्ययन करते हुए परमार्थ पथ पर अग्रसर होना ही मानव धर्म है और इससे बढ़कर प्रभु प्रसाद की अभिलाषा करते हुए चरम लक्ष्य की प्राप्ति करना ही महामानव का जीवन है। जो जैसी उपासना करते हों, उनके लिए वही श्रेष्ठ है। जो अकारण दूसरों को दु:ख पहुंचाता हो, उससे सुख की आशा करना महान् भूल है। किसी का शाप तथा आशीर्वाद मानव के विनाश व विकास में उतना स्थान नहीं रखता जितना कि उसका अपना कर्त्तव्य। किसी के कटु वचन को सहर्ष सहन कर लेना हितप्रद होता है।

प्यारे! परमार्थ पथ पर चलनेवालों को सदा शूलों की राह पर से गुजरना पड़ता है किन्तु इस मार्ग से होकर जो लोग गुजरे हैं वे ही आज जगत् में जीवित हैं। प्रेमयुक्त धर्म की धारणा ही नित्य जीवन को प्राप्त करने का हेतु है। साधक के जीवन में धैर्य की विशेष आवश्यकता है। आगे क्या होगा इसकी चिन्ता अज्ञानी करते हैं, प्रभु प्रेमी को इतना सोचने के लिए समय कहां? शान्ति के साथ समस्त संघर्ष को समाप्त करते हुए सत्पथ पर अग्रसर हो, सत्य की प्राप्ति करना ही सदाचारी का उद्देश्य है।

प्यारे! जो परिस्थिति साधन पथ पर आ जाए, इसका पूर्णरूप से निराकरण करने के लिए प्रयत्न करना ही उचित है। विशेष तन्मयता में अपनी ही सुधि नहीं रहती तो व्यवहार की बात कहां? साधन में जब तक पूर्ण प्रेम की प्राप्ति न हो तब तक लोक तथा वेद की मर्यादा का

पालन करना चाहिए अन्यथा पतन का भय रहता है। जब तक देश, काल, परिस्थिति का बोध हो तब तक प्रभु आज्ञा समझ कर्त्तव्य पालन करने के लिए तत्पर रहना श्रेष्ठ है। सेवाभाव से युक्त हो पूर्ण शक्ति के साथ सन्मार्ग का अवलम्बन कर जीवन पथ पर आगे बढ़ना मानव का कर्त्तव्य है। प्रत्येक कार्य को प्रभु की पूजा समझकर करो। कार्य की असफलता पर चिन्ता नहीं करनी चाहिए, प्रभु इच्छा समझ प्रसन्नता ही रखनी चाहिए क्योंकि प्रभु के सिखाने के अनेकों ढंग हैं, वे इसके द्वारा मुझे निरभिमानता की शिक्षा दे रहे हैं, ऐसा समझना चाहिए। जब तक अपने मन–बुद्धि से मानव निराश नहीं होता तब तक पूर्ण समर्पण नहीं कर पाता। अतः मन–बुद्धि प्रभु को समर्पण कर निश्चिन्त हो जाओ।

प्यारे! विचार करो, जगत् में दो ही तत्त्व हैं एक तो शरीर जो कि प्रकृति के कार्यों द्वारा निर्मित है, उसका अंश होने से वह भी उसके समान जड़ है, दूसरा चेतन शक्ति आत्मा जो परमात्मा का अभिन्न अंश है। जड़ शरीर नाशवान् तथा चेतन आत्मा अविनाशी धर्म वाला है। यह निश्चित मत है कि अंश अपने अंशी से किसी काल में विलग नहीं होता। अब ज़रा दिल दिमाग से विचार करो कि वह कौन सा तीसरा तत्त्व है जो कि बन्धन में है और उसकी मुक्ति होगी? अतः इस भ्रम से मुक्त हो अपने अंशी प्रभु में अखण्ड प्रेम कर कर्त्तव्य का पालन करते हुए सदा प्रसन्न रहो।

प्यारे! जब जीव दृढ़ होकर परमार्थ पथ पर चलता है तब उसकी प्राकृतिक विधान से परीक्षा होती है क्योंकि बिना अग्नि में तपाये सोना कुन्दन नहीं बन सकता। दुःखरूप अग्नि में जीव को तपाकर फिर प्रभु उसे अपनी शरण में स्वीकार करते हैं। तप इत्यादि इसीलिए किए जाते हैं किन्तु जो आर्त्त हो प्रभु से एक बार भी कह देता है, हे प्रभो! मैं आपका हूं, फिर उसके लिए किसी प्रकार की कसौटी नहीं होती लेकिन यह कहना सरल नहीं। जब तक पूर्णरूप से 'मैं' का नाश नहीं हो जाता तब तक

हृदय से 'तू' का उच्चारण नहीं होता। हृदय की आवाज़ ही भगवान् को द्रवित करने में समर्थ होती है।

प्यारे ! यह निश्चय करना होगा कि जीवन की पूर्ति न तो संयोग में है न वियोग में। व्याकुलता की अग्नि समस्त वासनाओं को भस्म करके जीवननाथ से नित्ययोग की प्राप्ति करा देती है और उसी में अनन्त रस की मांग पूर्ण हो जाती है। विश्व ही भगवान् का निज स्थान है। शरीरस्थ आत्मा भी आवागमन से रहित है किन्तु काल्पनिक रूप से ही उसमें इसका आरोप किया जाता है। जो सर्वदेशीय, सर्वसमर्थ हो, उसका आना–जाना कैसा? सीमित अन्तःकरण में स्थित होने से ही वह अपने को एकदेशीय मानता है और इसी से उस असीम तत्त्व में संयोग तथा वियोग की कल्पना करता है। विरह की अग्नि में जब सीमित भाव जल जाता है तब असीम से युक्त हो अनन्त विज्ञान तथा सामर्थ्य का अनुभव कर वह कृतकृत्य हो जाता है। किन्तु व्यापकता का आधार लेकर साधक अपने को विरह की अग्नि से बचाता रहता है, यही कारण है कि उसका हृदय पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं होता और अनन्त की अनुभूति से वंचित रह जाता है।

प्यारे! प्रत्येक जीव शिव से अभिन्न सम्बन्ध रखता है क्योंकि वह उसी का सनातन अंश है। जगत् में आकर अबोधता के आधिपत्य में पड़ने से उसको ही अपने से भिन्न मानता है जिससे इसका अस्तित्व है। आहा हा! कितने आश्चर्य की बात है कि जो अपना सर्वस्व है, उसे ही दूसरा मान बैठता है। अरे प्यारे! भला वह तुमसे विलग कब, क्यों और कैसे हो गया? क्या अपने आप से भी कभी वियोग होता है? जब वियोग ही नहीं तो संयोग कैसा? वहां तो नित्य योग है। वियोग के भ्रम को दूर कर संयोग की आशा छोड़, नित्य योग का रसास्वादन कर कृतकृत्य हो जाओ।

प्यारे! ईश्वर विश्वास ही दुःख से बचाता है। पूर्ण विश्वास ही

भक्ति की जड़ है। कर्त्तापन का अभिमान त्याग, ईश्वर आज्ञा समझ नियत कर्म का पालन करो। अज्ञानता का नाम ही माया है। 'मैं' देह हूं यही अज्ञानता है, मैं आत्मा हूं यही ज्ञान है। प्रभु मुझमें और मैं प्रभु में हूं, ऐसा निश्चय कर कृतकृत्य हो जाओ। शान्ति का मूल साधन अपना शान्त मन है। संसार में रुचि ही अशान्ति तथा अरुचि शान्ति का कारण है। जितना जानते हो उतने का मनन कल्याणप्रद है। जिसको प्रभु में पूर्ण प्रेम है, वही मुक्त है। जब जगत् को खेल और अपने को खिलाड़ी समझ लिया जाए तो दुःख–सुख आदि खेल के अंश हो जाते हैं फिर उनसे घबराहट नहीं होती। अखण्ड भजन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। मैं प्रभु का हूँ, यही दृढ़ निष्ठा अखण्ड भजन है। जब तक भूख–प्यास आदि की सुधि रहती है तब तक व्यवहार का पालन करना ही आवश्यक है। प्रेम में तन्मय होने पर तो लोक–वेद का ज्ञान ही नहीं रहता, फिर व्यवहार कहां?

प्यारे! सत्य एक है और उसका ज्ञान मानवमात्र को है। बताने की नई बात कुछ भी नहीं है। सत्–असत् का विवेक ही कल्याणप्रद है। सत्य वह है जो सदा, सर्वत्र, सर्वज्ञ तथा सर्वसमर्थ है, अल्प सामर्थ्य वाला एकदेशीय सत्य नहीं। सर्वत्र होने के कारण वह समान रूप से सभी प्राणिमात्र को प्राप्त हो सकता है, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं। जैसे जल मिट्टी के नीचे सर्वत्र है, सभी को प्राप्त भी हो सकता है किन्तु ऊपर से थोड़ी मिट्टी को हटाना होता है, उसी प्रकार वह सत्य सर्वत्र है, सभी को प्राप्त भी हो सकता है किन्तु अहंकार रूपी मिट्टी हो हटाने पर ही। इतना और समझ लेना होगा कि जल और सत्य का उदाहरण सर्वांग में नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाण एक देशीय होता है। अतः जल प्राप्ति के लिए और भी साधनों की सहायता लेनी पड़ती है किन्तु सत्य प्राप्त करने के लिए केवल सत्य ही साधन है। असत्य के द्वारा सत्य को खोजने का प्रयत्न प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ भी स्थान नहीं रखता। सत्य अनन्त

है, वह किसी रूप में सीमित नहीं हो सकता। जिसका आदि–अन्त न हो वह सत्य है। प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्ति में सत्य को ही ढूंढना चाहिए। व्यक्ति में सौन्दर्य तथा वस्तु में कलारूप से सत्य की अनुभूति होती है, यही उसको ढूंढने का मार्ग है।

प्यारे! मन में अशान्ति का कारण यह है कि मन मेरा और मैं मन का हूँ। जब मैं उनकी क्रीड़ा का सामान हूं, वे चाहे जैसे मेरे द्वारा खेले, ऐसा भाव दृढ़ हो जाए तो मन व शरीर से किसी भी दशा में अशान्ति का अनुभव नहीं हो सकता क्योंकि उनके हो जाने पर जीव की प्रत्येक क्रिया उनकी पूजा हो जाती है। जब तक पूर्ण समर्पण नहीं होता तब तक उसके योग्य बनने की चेष्टा करो।

प्यारे! क्या अग्नि के पास जाने पर भी शीत लगता है या रहता है? यदि नहीं तो पतितपावन की शरण में जाने पर भी पाप कैसा? जो उनसे अपने को दूर रखता है, वही दीनता, पतितता और अधमता आदि का भान करता है। जो समर्पित हो गया वह पतित कैसे? उनके लिए भवसागर कहां? प्यारे! हम ही उनसे छिपे हैं, वे नहीं, हम उन्हें भूलते हैं, वे नहीं क्योंकि यदि वे छिपे हैं तो सर्वत्र कहां और वे भूले हैं तो सर्वज्ञ कैसे? यदि वह सर्वत्र, सर्वज्ञ तथा सर्वसमर्थ नहीं तो उनसे प्रेम ही क्यों किया जाए? उनसे अच्छा तो यह जगत् ही है।

प्यारे! बड़ा लड़का स्वयं पवित्र हो अथवा मल साफ कर अपनी मां के पास जाता है तथा छोटे लड़के का मल मां धोती है। यही दशा ज्ञानी तथा भक्त की समझनी चाहिए। दिनचर्या वही सुन्दर है जिसमें हर समय प्रभु का ध्यान बना रहे। जब जगत् के कारण प्रभु हैं तो कार्य उनसे भिन्न कैसे हो सकता है? जैसे खांड से अनेक मिठाइयां बनती हैं और सभी मिठाइयों में खांड के सिवाय कुछ नहीं होता, नाम–रूप भले ही भिन्न हो जाएं, वैसें ही प्रभु से जगत् और जगत् में उस प्रभु के सिवाय

अन्य कुछ नहीं है, ऐसा सन्तों का अनुभव है। जो अपने को प्रिय नहीं है, वह दूसरे के साथ न बर्तें। इतने में ही धर्म का सारांश है।

प्यारे! जो इन्द्रियों को रोककर विषयों से दूर रहते हैं, उनका उनमें राग बना रहता है किन्तु जो तत्त्वज्ञ है, जिसने जान लिया है कि जगत् जगदीश का ही व्यक्त रूप है, उसका तो विषयभाव ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में सृष्टि नहीं रह जाती है। यदि कोई अन्धेरे में रस्सी को सर्प जान भयभीत होकर भाग जाए तो वह काटने के भय से तो बच जाता है किन्तु उस रस्सी में उसका सर्प का भाव बन रहता है। यदि प्रकाश में उसे देख ले तो उसका सर्पभाव मिट जाता है और भय से भी मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान की महिमा है।

प्यारे! एक प्रभु में ही मन का अन्त कर देना सच्चा एकान्त है, शरीर से नहीं क्योंकि दोष का कारण शरीर नहीं, मन है। जब सर्वस्व उनका है तो वे चाहे जैसे रखें, इसमें दु:ख की बात क्या? न्याय क्या है, यह तो प्रभु ही जानते हैं। मानव को कैसे पता चला कि उनको दु:खित होता देख प्रभु शान्त हो, उससे दूर बैठे हैं क्योंकि जिससे यह जाना गया वह किससे है? यदि प्रभु से है तो वे दूर कैसे और यदि अपने से है तो वे कहां? बस इतना ही विचारो। प्रभु को यह करना चाहिए, यह ज्ञान भिन्नता में होता है जो उनकी ओर से नहीं है।

प्यारे! जीव स्वयं को परवश मानता है, इसी से वह सदा दु:खी रहता है लेकिन दु:ख की पूर्णता में ही सुख की कामना का समूल नाश हो परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिए दु:ख का सत्कार करना चाहिए। अधूरा दु:ख तो सुख की चाह से उत्पन्न होता है और उसके अभाव में पुन: अनेकों रूपों में प्रकट हो जाता है। अत: अधूरा दु:ख मिटाकर प्रभु विरह का पूर्ण दु:ख जाग्रत करो, वही आनन्ददाता है।

प्यारे! कोई भी व्यक्ति लौकिक परिस्थिति के साथ भाग्यवान्

तथा अभागा नहीं कहा जा सकता क्योंकि देखने में आता है वही भाग्य के साधन मानव के लिए अभाग्यप्रद तथा अभाग्य के साधन भाग्ययुक्त हो जाते हैं। जैसे प्रमाण में अपने भक्तों की गाथाएँ हमें बताती हैं कि तुलसी का अपमान, सूर का अन्धापन, मीरा का वैधव्य, इतने ही नहीं अनेकों उदाहरण हमारे सामने अब भी उपस्थित हैं। दु:ख तो बहुत अच्छा है जो हमारे किए हुए दूषित कर्मों का फल भुगवाकर पवित्र करता है इसलिए उससे कभी घबराना नहीं चाहिए। ऐसा अवसर भाग्यवान् को ही प्राप्त होता है जिससे पवित्र हो प्रभु के चरण–कमलों का अधिकारी होता है।

प्यारे! अनन्त जन्मों का किया हुआ शुभाशुभ कर्म फल ही सुख–दु:ख रूप से सामने आता है। उससे अधीर न हो, प्रभु कृपा का भान करते हुए उसको स्वीकार कर, विवेक के प्रकाश में उसे दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मैं अज्ञानी हूँ, ऐसा भाव अपने हृदय में कभी नहीं लाना चाहिए क्योंकि यह निश्चय है कि मन जैसा चिन्तन करता है वैसा ही हो जाता है। अत: मन के कुत्सित स्वभाव को रोकने की यही एक युक्ति समझ में आई है कि मन को सदैव ऊँचे विचारों में रखना चाहिए। पापी, अज्ञानी, अभागा आदि की कल्पना न कर मैं आनन्दमय आत्मा हूं, ऐसा चिन्तन करते हुए अनन्त रस का अनुभव करो।

प्यारे! प्रभु एक हैं और वे सदा सर्वत्र सम्पूर्णरूप से विद्यमान हैं। प्रत्येक प्राणी में जो कुछ चेष्टा प्रतीत हो रही है, वह सब उन्हीं की शक्ति है। दिल–दिमाग की एकता हो जाने पर यह बात समझ में आती है। सोचो, क्या आपका भी कुछ अस्तित्व है? तत्त्व दो हैं, एक जड़ दूसरा चेतन, जिनको शरीर तथा शरीरी कहा जाता है। जड़ शरीर जगत् का अंश है और चेतन शरीरी जगदीश का। यदि वे दोनों अंशी अपने–अपने अंश को ले लें तो आपका क्या अस्तित्व रह जाएगा? इतना ही विचारना है।

प्यारे! मानव जीवन की सार्थकता पूर्णता की प्राप्ति में है। जो

मानव सतत पुरुषार्थ कर उस परम तत्त्व को प्राप्त करके कृतकृत्य हो गया, उसी का जीवन सफल हुआ तथा उसी का नाम आज दिन तक इस जगत् में विख्यात है। यह सर्वमान्य सत्य है कि जिसको प्रभु प्रिय हैं उसी को जगत् के लोग भी प्यारे करते हैं।

प्यारे! अनन्त सत्ता जीवों के कर्मानुसार प्रत्येक भोग का विधान स्वयं करती है। आस्तिक मानव प्रारब्ध को प्रबल जान उससे प्रसन्न रहता है और अविचारी मिथ्या दुःख का भागी बनता है। अस्तु, जीवन को प्रभु को समर्पण कर प्रारब्धानुसार कर्म फल का भोग करते हुए निश्चिन्त रहो। आश्चर्य की बात है कि मानव जाने हुए को जीवन में न लाकर अधिकाधिक जानने के लिए लालायित रहता है। इतना ही नहीं, जिसको करने की शक्ति है उसे न कर, जो नहीं कर सकता उसको करने के लिए सतत चिन्तित रहता है। इसका मूल कारण है विचार की कमी। वास्वत में हमें केवल इतना ही समझना है कि हम क्या कर सकते हैं? जिसको करने की सामर्थ्य ईश्वरीय विधान द्वारा प्राप्त है उसे करो और जो हम नहीं कर सकते, वह हमारे लिए कर्त्तव्य कर्म किसी काल में नहीं हो सकता।

प्यारे! विशेष विचार करने पर मानव जीवन में शान्ति के लिए दो ही आधार प्रतीत होते हैं– पहला प्रारब्ध और दूसरा पुरुषार्थ। प्रारब्धानुसार भोग तो प्रत्येक प्राणी को प्राप्त हो रहा है किन्तु पुरुषार्थ के लिए सामर्थ्य विशेष मानव जीवन में ही मिलता है। वाह रे मोह की महिमा! प्रारब्ध के द्वारा स्वतः प्राप्त होने वाले भोगमय पदार्थों के लिए जीवन की अमूल्य शक्ति का अपव्यय तथा पुरुषार्थ के द्वारा सिद्ध होने वाला जो परमार्थ है, उसे मानव प्रारब्ध के आधार पर छोड़ देता है। यही कारण है कि वह चाहते हुए भी शान्ति से वंचित रह जाता है। यद्यपि वैसा करना किसी को अभीष्ट नहीं है तथापि इससे छुटकारा भी स्वतः नहीं होता क्योकि जो स्वयं के बनाए हुए दोष हैं, उनको दूसरा कैसे हटाए?

प्यारे! विचारवान् मानव किसी काल में भी प्रारब्ध से प्राप्त होने वाले पदार्थों के लिए पुरुषार्थ की शक्ति का अपव्यय नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि प्रारब्ध के आधार पर ही शरीर का निर्माण होता है और उसी के द्वारा उसकी पूर्ति भी। हानि–लाभ, दु:ख–सुख, यश–अपयश प्रारब्ध के तथा निश्चिन्तता, निर्भयता, निर्लोभता, निष्कामता और निर्लेपता आदि सभी सद्गुण पुरुषार्थ के आधीन हैं। जैसे एक बीज में अनन्त वृक्ष छिपे होते हैं, वैसे ही निष्कामतारूपी बीज में अनन्त सद्गुण विद्यमान रहते हैं। कुछ न चाहते हुए जगदीश की पूजा समझ जगत् के जीवों की सेवा करना, इसी में जीवन की सार्थकता है।

प्यारे! जगत् भर के पदार्थों के द्वारा भी किसी एक दु:खी के दु:ख को दूर नहीं किया जा सकता तो समाज के दु:ख को पदार्थों के द्वारा दूर करने के लिए क्यों चिन्तित हुआ जाए? जितनी योग्यता तथा सामर्थ्य प्राप्त है, उसी का उपयोग करते हुए समाज की सेवा करो। जो नहीं कर सकते उसके लिए चिन्तित होना व्यर्थ है। जिस प्रभु ने विश्व की रचना की है, वह उसका हमसे विशेष हितैषी है और वह सर्वज्ञ होने से सब कुछ जानता है, सर्वत्र होने से सब कुछ देखता है तथा सर्वसमर्थ होने से उसके हित के लिए सब कुछ कर सकता है। ऐसा निश्चय कर निश्चिन्त हो जाओ।

प्यारे! समाज की अव्यवस्था न देखी जाए तो उसके दु:ख से दु:खित हो, व्यथित हृदय से प्रभु से प्रार्थना करो उसके कल्याण के लिए, यही तुम्हारी सबसे बड़ी सेवा है क्योंकि इसके अतिरिक्त मानव कर ही क्या सकता है? जो मिला है, वह तुम्हारा नहीं है, ऐसा निश्चय समझो, इसी में कल्याण है। यदि प्रभु को प्रिय होगा तो वह तुम्हारी प्रार्थना से द्रवित हो तुम्हारे में सेवा के लिए अनन्त शक्ति प्रदान करेंगे। मिले हुए का सदुपयोग करना ही मानवता है।

प्यारे! जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। घटना को भूलकर उसके अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। एक सी घटनाएं जीवन में बार–बार नहीं होती। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार इनका भी परिवर्तन होता रहता है। सर्वसमर्थ को प्रभु कहते हैं। जो सदा, सर्वत्र, सर्वरूप से विद्यमान हो उसमें संयोग–वियोग की कल्पना कैसी?

प्यारे! शरीर स्थित आत्मा की किसी भी काल में दुर्दशा नहीं होती और न उसमें भूलकर भी प्रमाद के लिए स्थान है। ये दोनों अवस्थाएं तो बुद्धि की महिमा है जो अज्ञान से आच्छादित होने पर ही उसमें प्रकट होती हैं और वही जीवन में अहित का कारण हैं। कोई भी घटना जीवन में असम्भव नहीं। प्रभु–कृपा से ही उसका प्रत्यक्षीकरण होता है। वियोग में संयोग तथा संयोग में वियोग को देखने वाला साधक ही दिव्य योग–पथ का अधिकारी होता है। प्रेम की दशा अकथनीय है किन्तु उसकी पूर्णावस्था को प्राप्त करने मे अचाह ही हेतु है।

प्यारे! भक्त के हृदय में राग–द्वेष के लिए स्थान नहीं। प्रतिकूल स्वभाव वालों के प्रति उदासीन हो जाना ही उचित है। अपने से महान् को देख प्रसन्न होना, सम स्वभाव वाले से मित्रता, विषम विचारवालों से उदासीनता तथा दीनों पर दया, इन चार भावों से ही जीवन पथ पर आये हुए परिस्थिति चक्र का सामना करना साधक की 'रहनी' है। मूल बात यह है कि निज कृत कर्म ही अच्छे अथवा बुरे रूप में सामने आते हैं, अन्य को उसका कारण मानना उचित नहीं। जब तक शरीर है तब तक व्यवहार में अच्छे–बुरे लोगों का सम्पर्क होता रहेगा। जगत् और जीव प्रभु का ही स्वरूप है, ऐसा सतत चिन्तन करने से ही उस अवस्था की प्राप्ति होती है जिससे मानव सदा समता व शान्ति के साम्राज्य में विहार कर सकता है।

प्यारे ! ध्यान वा भजन किया नहीं जाता, वह तो स्वयं होता है। यह चित्र–पट्टी उनके लिए है जो अभी साधन की प्राथमिक पाठशाला में

जाना सीख रहे हैं। भला जो एक बार अमृत पी ले, उसे फिर पानी कैसे प्रिय लगेगा? जो प्रभु को प्रिय है वही हो रहा है, ऐसा समझकर निश्चिन्त हो जाओ। अनहोनी तो होनी नहीं और होनी होकर ही रहेगी। शरीर का प्रारब्ध तो पूरा होगा ही, इस विषय में तो विचार ही नहीं करना चाहिए। प्रभु वही करते हैं जिसमें भक्त का कल्याण निहित होता है। दीनबन्धु से की हुई आर्त प्रार्थना अवश्य ही पूर्ण होती है, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं क्योंकि वह अन्तर्यामी सबके हृदय की जान रहे हैं।

प्यारे! जीवन से निराश हो हार मानना मानवता का अपमान है। साहस ही मानव को मानवता की ओर अग्रसर करता है। भूतकाल के आधार पर भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए वर्तमान में सतत प्रयत्न करना चाहिए। मानव जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान नहीं।

प्यारे! साधन के आरम्भ में आलस्य का आना सम्भव है, इससे घबराना नहीं चाहिए। मन्त्र जाप ठीक–ठीक चलने पर वह स्वयं दूर हो जाता है। इसके लिए समय विशेष की आवश्यकता है। श्रद्धा, तत्परता व संयमित जीवन, साधन में मूल हेतु हैं। प्रमाद का मूल कारण पूर्वकृत अपवित्र कर्म हैं जो कि नाम–जप से समूल नष्ट हो जाते हैं। अशान्ति का मूल कारण है कर्तापन का अभिमान। जाति, विद्या, रूप, यौवन तथा साधकपन का अभिमान, ये पांचों भक्ति में कंटक हैं। इन सब में पांचवा (मैं साधना करता हूँ, इससे प्रभु मिलेंगे) सबसे बड़ा कांटा है। जैसे छोटा बच्चा आर्त हो दीन भाव से मां को पुकारता है, वैसे ही दीन हो व्यथित हृदय से प्रभु को पुकारें, यही प्रभु प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ् मार्ग है। संत कबीरदास जी का कहना है –

हँसि हँसि कन्त न पाईया, जिन पाया तिन रोय।

प्यारे! जिस मार्ग से पहले के लोग गए हैं, उसी का अपनी रुचि के अनुसार अवलम्बन लेना उचित है। साधन के अनेकों मार्ग हैं किन्तु

सबका पर्यवसान एक ही लक्ष्य में होता है। भाव के भेद से केवल उनके रसास्वादन में भेद हो जाता है। जप के लिए एक ही मन्त्र होना चाहिए और उसके अर्थ का सतत चिन्तन करते रहना चाहिए। श्रद्धा, विश्वासपूर्ण अहर्निश मानसिक जप करने से कल्याण में कोई सन्देह नहीं। बैठकर ही भजन होता है, ऐसी बात नहीं। भजन के लिए देश, काल, परिस्थिति को न स्वीकार कर हर समय, हर जगह, हर दशा में नाम–जप करना ही श्रेष्ठ होता है। जहां तक हो सके व्यवहार में कम से कम समय लगाने की चेष्टा करें। जगत् से उदासीनता और प्रभु में तल्लीनता ही भक्त का लक्षण है। संगीत सबसे अच्छा वह है जिसमें प्रत्येक स्वर के साथ प्यारे का नाम गूंजता हो, यही कल्याणकारी है।

प्यारे! संसार चलाने वाली तो कोई और ही शक्ति है। मानव तो उसके चलाने का मिथ्याभिमान करता है, यही सबसे बड़ी भूल है उसकी। संत परोपकारी होते हैं, यह समझना ठीक नहीं क्योंकि परोपकार का अर्थ है दूसरों का उपकार करना और जब तक आत्मा से भिन्न अन्य भी कोई है तब तक संत कहना भूल है। मां–बाप यदि बच्चे की देखभाल वा सेवा करते हैं तो वह परोपकार नहीं कहा जाता क्योंकि बच्चे के रूप में स्वयं उनकी अपनी आत्मा होती है, ऐसा स्मृति–वाक्य है। ठीक इसी प्रकार सन्त सबकी आत्मा और समष्टि उनका अपना ही स्वरूप होता है। इस कारण सन्त के साथ परोपकार की मान्यता उचित नहीं।

प्यारे! रामायण जीवन की हर प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए परमोपयोगी ग्रन्थ है क्योंकि उसमें एक महामानव के विशुद्ध जीवन का चित्रण है। उसका पाठ कम से कम सात दोहे तक, अधिक जितना हो सके, अच्छा है। माला से मानसिक जप श्रेष्ठ है, यदि सदैव चलता रहे तो। माला तो केवल अभ्यास दृढ़ करने के लिए है। साधन से रहित होने का मूल कारण उसकी महिमा को न जानना है। प्रभु–कृपा से ही स्वधर्म

में अनुराग होता है।

प्यारे! शारीरिक तप जिसमें कि अधिक रूप से व्रत–उपवास के साथ–साथ अनेकों प्रकार से शरीर को कष्ट दिया जाता है और उन मन्त्रों का जप जिनसे नाना प्रकार की लौकिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं, उनका आत्मकल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका सम्बन्ध केवल मानसिक कामनाओं से है जो कि अष्टधा प्रकृति के कार्यों से पूर्ण होती हैं और वह घोर तप आसुरी है जिसका लक्ष्य नाना प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करना है। तप क्षीण हो जाने पर उसका परिणाम बुरा होता है। वास्तव में तो स्वधर्म पालन, प्रभुनाम जप तथा विशुद्ध भाव से केवल आत्मचिन्तन ही कल्याण का हेतु है क्योंकि प्रभु प्रेम और सिद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं।

प्यारे! सद्‌गुरु का सम्बन्ध शारीरिक नहीं होता। शास्त्रों में तो उन्हें ब्रह्म की समानता दी गई है क्योंकि उसकी प्राप्ति में वे ही मूल कारण हैं। ईश्वर की पूर्ण कृपा से ही सद्‌गुरु की प्राप्ति होती है ओर उनके दर्श, स्पर्श, समागम आदि से चित्त के विकारों का शमन तथा एकाग्रता की प्राप्ति हो जाती है। योग दर्शन में भी महर्षि पतंजलि जी ने कहा है, ''**वीतराग विषयं वा चित्तम्**'' अर्थात् वीतराग महापुरुषों का ध्यान करने से भी चित्त शान्त हो जाता है इसलिए कहा गया है कि गुरु में अनुराग करना अच्छा है क्योंकि मां, बाप, पति आदि का सम्बन्ध शारीरिक व संसार में संलग्न करने वाला तथा गुरु का सम्बन्ध आत्मिक और जगत् से मुक्त करने वाला होता है। सृष्टि के आरम्भ से ही प्रत्येक योनि में शारीरिक सम्बन्धियों की प्राप्ति स्वतः होती रहती है किन्तु सद्‌गुरु का सम्बन्ध तो केवल मानव शरीर से ही सम्भव है और इसी से जन्म–मरण का भय जो कि प्राणिमात्र के पीछे लगा हुआ है, उससे छुटकारा मिल सकता है।

प्यारे! शरीर के सम्बन्धियों में राग होने से संसार का चिन्तन

तथा सत्पुरुषों में श्रद्धा होने से भगवान् का चिन्तन स्वतः होता है। अतः सत्पुरुषों वा सद्गुरु में अनुराग होना कल्याण का सर्वश्रेष्ठ साधन है। यदि सद्गुरु वास्तव में सद्गुरु है, कुछ न चाहते हुए शिष्य के कल्याण का चिन्तन करता है तो वह ईश्वर से भी अधिक श्रद्धा का पात्र है। मां–बाप के ऋण से तो जीव उऋण भी हो सकता है लेकिन गुरु ऋण से तो किसी भी काल में उऋण नहीं हो सकता क्योंकि उसके प्रकाश में अनन्त काल के दुःखमय जीवन से मुक्त हो जीव सदा के लिए शिवतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। अतः संसार के राग से छुटकारा पाने के लिए गुरु में अनुराग होना सर्वश्रेष्ठ साधन है।

प्यारे! साधन में लगने के पश्चात् मार्ग में क्या–क्या होगा, इसको जानने के लिए उतावले नहीं होना चाहिए। वह तो चलते हुए सामने आएगा ही। प्रेमी की व्याकुलता ही परम सम्पत्ति है।

प्यारे! साधन के प्रारम्भ में जो मूर्तरूप का दर्शन होता है वह मानसिक कल्पना के आधार पर ही जानना चाहिए। जब साधक को उस परमतत्त्व में दृढ़ निश्चय हो जाता है और संसार की असत्यता का अनुभव होने लगता है तो उसके साथ मायाजनित मन का भी अभाव होने लगता है और उससे सम्बन्धित मानसिक, काल्पनिक स्वरूप का भी लोप हो जाता है क्योंकि साधन की सारी प्रक्रिया मन को परिवर्तित करने के लिए ही होती है। जो अज्ञानतावश काल्पनिक स्वरूप को ही परमतत्त्व मान लेते हैं, वे भूल में ही रह जाते हैं और साधन की सफलता समझ अल्पकालिक मन की स्थिरता में ही शान्ति का सुख लेने लगते हैं किन्तु इन मायिक कार्यों से परम शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है।

प्यारे! जो साधक इस काल्पनिक स्वरूप से ही सन्तुष्ट हो साधन छोड़ देता है, उसी को साधनभ्रष्ट या योगभ्रष्ट कहते हैं। यही अवस्था होती है साधक को संभलने की। गुरु के प्रकाश में साधन करने

से गुरु साधक को उस अवस्था से मुक्त कर आगे बढ़ाने के लिए मार्गदर्शन कराता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह आत्मप्रसाद को प्राप्त करने के लिए सावधानी से आगे बढ़े, निश्चिन्त हो पूर्ण भाव से सद्‌गुरु की शरण ले, काष्ठ यन्त्रवत् जीवन के प्रारब्ध कर्म को भोगता हुआ अखण्ड जप और ज्योतिर्मय स्वरूप का चिन्तन करता रहे तथा संसार में वियोग का अनुभव करता हुआ अखण्ड प्रेम प्राप्ति की उत्कंठा से युक्त हो सदैव यह निश्चय रखे कि मैं नहीं, वही है।

प्यारे! नित्य कर्म उस स्वाभाविक कर्म को कहते हैं जो कि परिस्थिति के अनुसार सहज प्राप्त हो। किसी अवस्था में मिथ्या सुख–दुःख,संयोग–वियोग की भ्रान्ति को स्थान न देकर सदा निर्भय तथा निश्चिन्त रहना चाहिए। मार्ग में आई हुई विघ्न–बाधाओं को जीवन की परीक्षा जान राग–द्वेष से रहित हो विवेक के प्रकाश में उससे मुक्त होने के लिए सतत पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्यारे! पिछले कर्म तो फल देकर ही समाप्त होते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। जो चाहते हुए भी न हो सके, उसे प्रभु इच्छा ही समझना चाहिए। प्रभु सबके तथा सब उनके अपने हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए। समर्पण के बाद कुछ शेष नहीं रहता, राग–द्वेष तो भक्ति में कलंक है। जिसमें अपनापन है उसका ध्यान किया नहीं जाता, स्वयं हो जाता है। यदि करने से ध्यान हो तो वास्तव में प्रेम नहीं क्योंकि प्रेम सीखा नहीं जाता है। वह तो हृदय की सम्पत्ति है। बाहरी साधन तब तक ही श्रेष्ठ हैं जब तक कि हृदय में और के लिए भी स्थान हो। बाहर–भीतर एक होने पर कौन किसको क्या कहे?

प्यारे! समझना और समझाना दोनों अज्ञानता के विषय हैं। मूल बात तो प्रभु प्रेम में तल्लीनता है। दुःख का स्थान तभी तक है जब तक कि अपने पर पूर्ण विश्वास नहीं होता। आत्म विश्वास होते ही दुःख की

निवृत्ति हो जाती है जैसे कि जल पीते ही प्यास की। अपने पर विश्वास का अर्थ है पूर्ण समर्पण।

प्यारे! विवेकशील व्यक्ति उत्साह हीन वा अधीर नहीं होते। वे अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। समय के विरुद्ध कोई भी क्रिया आज तक किसी के द्वारा नहीं हो सकी क्योंकि करने वाली तो वही एक अज्ञात शक्ति है, इसमें जीव तो एक निमित्त मात्र बनता है। यह बात अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिए कि मानव जीवन का विकास प्रतिकूल परिस्थिति में ही होता है। विकास की अभिलाषा रखने वाले मानव को प्राकृतिक विधान से अनन्त सामर्थ्य की प्राप्ति स्वतः होती है, इसमें सन्देह नहीं। प्राप्त शक्ति तथा विवेक का सदुपयोग करते हुए समष्टि की सेवा करो। अप्राप्त क़ी प्राप्ति की कामना कर चिन्तित होना व्यर्थ है, वह तो ईश्वरीय विधान से स्वतः प्राप्त होगी, ऐसा पूर्ण विश्वास रखो।

प्यारे! विश्व को सुन्दर विचारयुक्त क्रियाशील आदर्श पुरुष की आवश्यकता है और ऐसा वही हो सकता है जो निज सुख की लालसा का त्याग कर प्रेमयुक्त विश्वनाथ के नाते विश्व के काम आवे। वास्तव में वही मानव कहलाने का अधिकारी है। निज सुख–भोग का सम्पादन तो पशु आदि भी कर लेते हैं, इसमें विशेषता क्या? इन्द्रिय–सुख तो जितना इन्द्र को इन्द्राणी के साथ इन्द्रलोक में प्राप्त होता है उतना ही शूकर को भी एक शूकरी से गन्दे कीचड़ में प्राप्त हो जाता है। अतः मानव शरीर से विषय रस की प्राप्ति अपना कोई महत्त्व नहीं रखती।

प्यारे! शरीर के साथ जगत् में रहते हुए जगत् के लिए भार बनना उचित नहीं और न अपनी पूर्ति के लिए जगत् की दासता ही करनी चाहिए क्योंकि मानव जीवन में ये दोनों कलंक हैं। मानव परमात्मा की प्रिय सन्तान है, इसमें संशय नहीं किन्तु मानवता किसी सुन्दर आकार–प्रकार से ही सम्बन्ध नहीं रखती। त्यागयुक्त प्रेमपूर्ण हो समष्टि

की सेवा ही मानवता का प्रतीक है। किसी भी मानव के द्वारा जगत् के बड़े से बड़े कार्य हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि सभी में सर्वरूप से वह अनन्त शक्ति विद्यमान है। आवश्यकता है आवरण उठाकर देखने की। कुछ न चाहते हुए विश्व के काम आ जाना, यही इस जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

प्यारे! अपने में अनन्त की स्थापना कर निश्चिन्त हो जाओ। मानव का जीवन समष्टि से सम्बन्धित है। उसका कल्याण समष्टि के कल्याण का तथा उसका पतन समष्टि के पतन कां हेतु होता है। समाज किसी एक वस्तु का नाम नहीं है, व्यक्तियों के समूह को ही समाज कहते हैं जो कि अनन्त का अभिन्न स्वरूप है। उनसे घृणा वा द्वेष रहित सद्भावमय व्यवहार करना मानवोचित कर्त्तव्य है।

प्यारे! जो असह्य हो उसे सहन करने का नाम ही तपस्या है। बिना उसके शक्ति का सम्पादन होना सम्भव नहीं। अपने दु:ख से तो सभी जीव दु:खित होते हैं किन्तु समष्टि के दु:ख से दु:खित हो उसके निवारण के लिए प्रयत्नशील होना ही मानव का स्वरूप है। जो कार्य जिसको सौंपा गया है, वह उसके लिए भार नहीं क्योंकि कोई भी पिता अपने बच्चे के ऊपर वह कार्य नहीं छोड़ता जो उसके लिए भारवत् हो। जिसके लिए मानव शरीर मिला है वह तो करना ही पड़ेगा। यदि न करने की चाह हो तो भी प्रकृति उससे करवा लेती है।

प्यारे! सूक्ष्म मानसिक निर्बल संस्कार ही स्वप्नरूप में अपना फल देने आते हैं और वे अपना प्रभाव दिखा, उपभोग समाप्त कर विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। स्वप्न की तरफ से दृष्टि हटाकर जो आता है उसे आने दो, किसी को बुलाओ मत! अतिथि के द्वारा अनहित की आशंका नहीं। जो आता है वह स्वयं चला भी जाएगा। अनुकूलता की चाह ही प्रतिकूलता से द्वेष तथा संसार की सत्यता सिद्ध करती है इसलिए इसको कभी

जीवन में स्थन नहीं देना चाहिए। हित किसमें है, यह जीव से अधिक उसके जीवननाथ जानते हैं।

प्यारे! प्रभु के नाते जिसमें जहां जिस प्रकार का भाव हो, उसमें वहीं वैसा निश्चय होना चाहिए। यदि हम उनके पूर्णरूप से हो जाएंगे तो क्या वे हमारे नहीं होंगे? यदि वे ऐसे निर्दयी हैं तो उनके होने से ही क्या लाभ? किन्तु निर्दयता तो वहां नाममात्र के लिए भी नहीं है। "जो जिस भाव से मुझे पूजता है, मैं भी उसको उसी भाव से भजता हूँ"– यह उनका ही दिया हुआ सन्देश है और इस पर हमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए।

प्यारे! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि अन्य भोक्ता के किये हुए कर्मों का फल अन्य कोई किसी काल में नहीं भोग सकता। भोक्ता तो वही है जो कर्त्ता है। कर्त्ता तथा भोक्ता–भाव की उत्पत्ति अज्ञानता से उत्पन्न हुए सीमित अहंकार में ही होती है किन्तु जो जीव त्रितापों से तप्त तथा व्याकुल हो, स्वयं को सर्वेश्वर के श्रीचरणों में समर्पित कर देता है, वह सदा के लिए समस्त कर्मों तथा उनके फलस्वरूप दुःख–सुख के भोगों से मुक्त हो नित्य आनन्द का भागी हो जाता है। जैसे प्रजा विशेष ऋण से व्याकुल होकर जब अपने आपको राजा को समर्पित कर देती है तो राजविधान से वह ऋणमुक्त कर दी जाती है अर्थात् राजा स्वयं ऋण को भर देता है। यह शरणागत की रक्षा का विधान धर्मनीति में बतलाया गया है। किसी के ऋण को भरने से राजा को दुःख व उसकी हानि होगी, ऐसी भावना तो उन्हें ही होती है जो कि राजा की महिमा से अनभिज्ञ हैं।

प्यारे! प्रकृति उदार है, वह मानव की कुछ इच्छाओं को पूर्ण कर उसे सिखाती है कि जब कुछ की पूर्ति में इतना सुख है तो सर्व निवृत्ति में कितना आत्मप्रसाद होगा! किन्तु अभागा मानव सर्व निवृत्ति की ओर मुड़कर देखना भी नहीं चाहता, उसकी पूर्ति के लिए ही सदा लालायित रहता है। यही कारण है समस्त दुःखों का। सभी इच्छाओं को पूर्ण करने में

प्रकृति स्वयं असमर्थ है क्योंकि वह भी स्वयं की कुछ सत्ता नहीं रखती, किसी के अधीन है।

प्यारे! जीवन में राग–द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं, वह तो अज्ञानता का द्योतक है, जो कि किसी भी मानव को शोभा नहीं देता। ईश्वर–भक्त के लिए तो यह कलंक ही है।

प्यारे! तुम्हें समझना चाहिए कि प्रभु का नाम पापहारी है, पापभोगी नहीं। पाप भोगने में ही दुःख है, उसके अपहरण में नहीं। प्रभु किसी के पाप को भोगते नहीं। उनकी शरण में आते ही समस्त शुभाशुभ कर्म स्वयं विनाश को प्राप्त होते जाते हैं, जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार। यही तो प्रभु की प्रभुता है। प्रकृति उनकी है, सदा उनके आश्रित रहती है। फिर भी उनके फेंकने से पत्थर डूब गया था जबकि उनके नाम से तैरता है। वास्तव में बात तो यह है कि जगत् और जीव, सभी जगदीश का साकार स्वरूप है किन्तु सबको इसको बोध हो जाए तो लीला ही कैसी?

प्यारे! भावना के अतिरिक्त भगवान् का कोई स्वरूप नहीं। वास्तव में निर्गुण–निराकार का आकार ही क्या? जब तक यह माया, वह ब्रह्म और मैं जीव हूँ, तब तक ही कमी है। इस त्रिविध भेद को मिटा देने के पश्चात् कमी कहाँ? परतन्त्रता किसकी? बन्धन कैसा? सभी लोगों की एक सी प्रवृत्ति हो जाए, ऐसा त्रिकाल में असम्भव है।

प्यारे! ज़ो प्रभु प्रेम का पुजारी है, वह भला कब मोहासक्त जीवों की बातों पर ध्यान देगा? ज्ञान की बातें तो जीवन में लाने से ही शोभित होती हैं, अनुकरण नहीं है तो दूसरा उसको क्यों मानेगा? यद्यपि तुम जगत् की अवस्थाओं से पूर्ण स्वतन्त्र हो तथापि प्रभु के आदेशानुसार व्यवहार में वर्तना ही उचित है। कल के लिए उसकी क्या इच्छा है, यह तो वही जाने! यह शरीर तो उसका एक यन्त्र है, इसके द्वारा वह चाहे जैसे कार्य करे। यह, वह से रहित 'मैं' का तो पता भी नहीं है। हम–तुम तो वही एक है

बल्कि तुम–हम तो एक कल्पना मात्र हैं। पूर्ण समर्पण के पश्चात् केवल आनन्द के सिवाय और कुछ शेष नहीं रहता क्योंकि वहां उनके सिवाय और कुछ है ही नहीं। जगत् जीव पच्चीस तत्त्वों में वही अनेक स्वाँग कर रहे हैं, यही तो उनका बाल–विनोद है। इस तत्त्व के ज्ञाता ''बन्दउँ बाल रूप सोई रामू'' कह उन्हें प्रणाम करते हैं।

<u>विशेष बातें</u>

1. प्यारे! कोई भी निज सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं देखना चाहता तो प्रभु को ही क्योंकर प्रिय लगे?
2. शक्ति के अतिरिक्त शक्तिमान् का स्वरूप शून्य के सिवाय और कुछ नहीं।
3. प्रभु की उदारता से प्राप्त हुए विवेक को अपना गुण मानना परम भूल है।
4. असीम की सेवा करने की शक्ति इसलिए नहीं दी जाती कि उसे सीमित में व्यय करे।
5. समर्पण एक बार ही होता है।
6. सीमित अहंभाव से उ़त्पन्न हुए बन्धन का अस्तित्व उसकी स्वीकृति तक ही रहता है।
7. संसारी लोग किसी का उत्थान नहीं देखते।
8. भक्त का बन्धन भगवान् स्वयं दूर करते हैं, यदि उससे छूटने की अभिलाषा हो तो।
9. सामान्य धर्म उसके लिए है जो विशेष का अधिकारी नहीं है।
10. विशेष धर्म का बोध होने पर भी सामान्य में आसक्ति उसकी अज्ञानता के सिवा और कुछ नहीं है।
11. यदि योग्यता तथा अधिकारानुसार कर्त्तव्य का पालन नहीं करोगे

तो वह छीन लिया जाएगा क्योंकि जो दे सकता है उसे छीन लेने का भी अधिकार है।

12. निर्भयता ही उत्थान का मूलाधार है।

13. जिसके बिना आप किसी अन्य आधार पर जीवित रह सकते हों, वह अपना नहीं।

14. जगत् में प्रवेश करने से पूर्व जीवन के लक्ष्य का निर्णय अवश्य होना चाहिए।

15. प्यार में प्यारे से कामना कलंक है।

प्यारे! जो जिसका है, वह उसके पास है, जो पास नहीं वह उसका नहीं। एक ही आत्मा विभिन्न रूपों में विहार कर रही है। संयोग का वियोग निश्चित है किन्तु योग का नहीं। प्रभु में संयोग तथा वियोग नहीं, वहां तो नित्य योग के सिवा दूसरी चर्चा ही नहीं है। अधम भक्त तथा भक्त अधम किसी काल में नहीं होता। अधम–उद्धारण की शरण लेने से ही अधमता का पूर्ण नाश हो जाता है। तो फिर जो समर्पित हो गया वहां अधमता कैसी? समर्पण के बाद तो कुछ रह नहीं जाता तो फिर भविष्य में क्या होगा, इसका विचार ही कौन करे?

प्यारे! जीवन में प्रत्येक पल मानव अनन्त इच्छाओं का मनन करता रहता है परन्तु पूर्ण वही होती है जो ईश्वरीय विधान से निश्चित है। अतः सद्विचारपूर्वक इच्छाओं का दमन करते हुए ईश्वरार्पण बुद्धि से क्रियाशील होना मानव का परम कर्त्तव्य है। हमारा हित किसमे हैं, इस विषय में हमारे से अधिक प्रभु को ध्यान है इसलिए सदैव निश्चिन्त रह उसी का स्मरण करते रहना चाहिए। कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जिसके आदि में मानव अपने को किसी भाव में आबद्ध न करता हो और उसके अनुकूल उसमें प्रवृत्ति न होती हो इसलिए मानव को विचार करना चाहिए कि जब हमारी भावना ही क्रिया की जन्मदात्री है तो उत्तम से उत्तम

विशाल भावनाओं का आधार लेकर कर्म में क्यों न प्रवृत्त हुआ जाये?

प्यारे! संग के अनुकूल ही जीवन का रंग होता है। संग का अभिप्राय है आसक्ति। जैसे एक भृंगी नाम का कीड़ा अन्य कीड़े को पकड़कर अपने भावयुक्त नाद द्वारा उसे अपना रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार हम एकाग्रचित हो, जिस अच्छी या बुरी वस्तु या व्यक्ति का चिन्तन करते हैं उसी से तदाकार हो जाते हैं। अतः मानव को सद्विचारपूर्वक सतत पूर्ण का चिन्तन करते हुए पूर्ण से अभिन्न होने की भावना बनानी चाहिए।

प्यारे! जीवन में अनेकों बार ऐसी विकट परिस्थितियां आती हैं, जिनका कि स्वप्न में भी चिन्तन करना अभीष्ट नहीं होता। फिर भी हमें अपने पर इतना अभिमान होता है कि मानो इस चलचित्र संसार के हम ही अधिष्ठाता हैं। इसका मूल कारण है देहासक्ति जिसनें आबद्ध हो हम वास्तविकता से बहुत दूर हो जाते हैं, फलतः नाना प्रकार के दुःखों का शिकार बनना पड़ता है। इसलिए शरीरासक्ति को त्यागकर अंश को अंशी से अभिन्न अनुभव करते हुए, इस प्रचण्ड विषय–अग्नि से दूर हो जाएँ, यही हमारे जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। बस इतना ही बहुत है कि हम प्रभु के, प्रभु से और प्रभु में ही सदा निवास करते रहें। शरीर से हमारा उतना ही सम्बन्ध है जितना कि जगत् से। अतः हम शरीर नहीं हैं, ऐसी नित्य धारणा कर हमें अपने को कारणरूप प्रभु में विलीन करना चाहिए। यह सद्ग्न्थों तथा सत्पुरुषों की सीख है। कर्म करने के पश्चात् फल की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। उचित फल तो ईश्वरीय विधान से प्राप्त होगा ही, इसमें संशय नहीं।

प्यारे! प्रभु एक हैं वे ही जगत् के आधार हैं। वह सदैव, सर्वत्र सभी के साथ हैं अथवा यूं कहो कि वे सबमें और सब उनमें ही रहते हैं। जैसे चाहते हुए भी कोई पक्षी आकाश के अतिरिक्त अन्यत्र उड़ान नहीं

कर सकता, यही दशा है जीव की। प्रभु में कठोरता तथा कोमलता की कल्पना भक्त भावानुसार ही करता है। वास्तव में तो वह दोनों से परे है। लेना तथा देना, इन दोनों में द्वैत ही सिद्ध होता है। निज स्वरूप में तो इसके लिए स्थान ही नहीं। अपने को छोड़ना और पकड़ना कहां? किसी सीमित स्वरूप में उस विश्वात्मा को आबद्ध करना उचित नहीं। ईश्वर सबका तथा भगवान् केवल भक्तों का ही होता है और वह सदा उनके साथ रहता है, इसमें सन्देह नहीं।

प्यारे! साधक को अपने जीवन में किसी प्रकार की भी निराशा नही लानी चाहिए। ऐसे शुभ अवसर साधक के समक्ष बहुत कम आते हैं जो उसे संसार से निराश होने को उपदेश देते हैं क्योंकि पूर्ण रूप से निराशा होने पर ही जीव की जगदीश की ओर प्रवृत्ति होती है। यह कई बार बताया गया है कि प्रतिकूल परिस्थिति ही मानव के उत्थान का मूल हेतु है। यह निश्चय होना चाहिए कि यह मानव जीवन प्रभु क्रीड़ा की सामग्री है। उस प्राणधन प्रियतम को प्रमोद प्रदान करने के लिए प्राकृतिक विधान से जो हो रहा है, वह उचित है क्योंकि उसके विधान में अनुचित कहाँ?

प्यारे ! कोई भी जीव स्वयं की कुछ सत्ता नहीं रखता। इसको प्रत्यके आस्तिक स्वीकार करता है। फिर साधक को आई हुई प्रतिकूल परिस्थिति पर व्यथा ही क्यों हो? अपने को महापुरुषों के जीवन से समझ लेना चाहिए कि या तो जगत् का ही प्यार लें या जगदीश का, दोनों एक-साथ नहीं मिल सकते। जो जगत् के प्यार का भूखा है, जगत उसे ठोकर मारता है लेकिन जो जगदीश के प्यार का भिखारी है, जगत् उसे अपना प्यार देकर स्वयं को कृतार्थ मानता है। जहां प्रकाश है, वहां अन्धेरा नहीं रहता। नारद को अपने उपहास पर बड़ा क्रोध था किन्तु उसमें उनका कितना हित था, यह तो प्रभु ही जानते थे। जीवन में समर्पण एक ही बार होता है। क्या मानव जीवन का लक्ष्य जगत् का प्यार पाना है?

प्यारे! समाज की चोट तो जीवन को आदर्शमय बना देती है, यदि साधक उससे घबराकर पथभ्रष्ट न हो तो। जैसे अनेकों प्रकार से अग्नि में तपाया हुआ स्वर्ण अधिक मूल्यवान् हो जाता है, ऐसी ही अवस्था साधक की होती है।

प्यारे! तुम्हें यदि जगत् के रसास्वादन की लोलुपता न हो तो पूर्ण सपर्मण कर जगदीश से अभिन्न हो जाओ। जब जगत् में जीव का कोई भी सहायक नहीं होता, सब ओर से निराशा ही निराशा दिखाई देती है, तभी वह पूर्णरूप से जगदीश की शरण लेता है। संसार को प्रसन्न रखते हुए जगदीश से अभिन्न होने की विकृत भावना ही साधक के जीवन में असफलता का कारण है। जीवन में साधन न कर जीवन को ही साधन बना अनन्त से युक्त हो जाओ। अपने को अपने में विलीन करना ही साधक का इष्ट है। उसे निश्चिन्त हो साधन–पथ पर अग्रसर होना चाहिए। प्यारे! अपने में अनन्त की सत्ता प्रकट कर लो जिससे समाज स्वयं भयभीत हो पीछा छोड़ दे या उसकी चिन्ता ही न रहे।

प्यारे! प्रसन्नता ही जीव का जीवन है। साधक जीवन में गमी के लिए कोई स्थान नहीं। अभिलाषा की पूर्ति के पश्चात् व्याकुलता का क्षुद्र रूप मिटकर पूर्णता में परिणत हो जाता है। साधन जब साधक का स्वभाव बन जाता है, तब उसमें से अहंवृत्ति मिट जाती है और पूर्व–संस्कारानुसार स्मृति ही शेष रह जाती है, यह है साधक की सफलता का स्वरूप। यही जीवन का उपयोग तथा नित्य जीवन की प्राप्ति का आधार है।

प्यारे! साधक जीवन में शंका के लिए स्थान नहीं। संयम वा समर्पण ही लक्ष्य की पूर्ति का साधन है। भेद के लिए जीवन में स्थान कहां ? क्योंकि "सब रूप तेरे माहीं हैं, तूं सब रूप माहीं है। अब देख आंखें खोल के तेरे सिवा कुछ नहीं है।" होने वाली बात तो होकर ही

रहती है, यह प्राकृतिक विधान है। स्वामी राम के शब्दों में –

अपने मजे के खातिर, गुल त्याग कर दिए जब,
रूहे जमीं के गुलशन अपने ही बन गए सब।
जितने जुबां के रस थे कुल तर्क कर दिए जब,
बस जायके जहां के मेरे ही बन गए सब।
आहा! अजब तमाशा मेरा नहीं है कुछ भी,
दावा नहीं जरा भी इस जिस्मो इस्म पर।
ये दस्तो–पा है सबके आंखें हैं ये सभी की,
दुनिया के जिस्म लेकिन मेरे ही बन गए सब।

प्यारे! वह अनन्त महिमामयी मां ऐसी है जिसे योग्य–अयोग्य का तो ध्यान भी नहीं रहता क्योंकि उसे जीवों से कोई आशा नहीं, वहां तो केवल प्यार ही प्यार है। नवजात शिशु को मां कितना चाहती है, यह तो मां का हृदय जानता है न कि बच्चे का।

प्यारे ! जब तक हम और हमारा भाग्य साथ है तब तक प्रभु कृपा कैसी? समर्पण के बाद कुछ करना शेष नहीं रहता। भय और चिन्ता का स्थान तो जगत् है, जगदीश नहीं। अज्ञान के कारण ही जीव नाना प्रकार के दुःखों का शिकार होता है। प्रभु की कृपा तो सभी जीवों पर एक सी है। जगत् की किसी भी परिस्थिति में रहकर मानव प्रसन्न रह सकता है, आवश्यकता तो उसकी कृपानुभूति की है। अनुकूलता का अभाव साधक को परिणाम में हितकर होता है, यद्यपि पहले उसे दुःख की प्रतीति होती है। शरीर तो अपने अधीन है, चाहे उसको जिस दशा में रखा जाए। हानि तो मन की निर्बलता से ही होती है।

प्यारे! इस शरीर को एक मकान समझो, जिसमें इन्द्रियों के सहित अन्तःकरणादि सेवक हैं और जीवात्मा इसका स्वामी। सेवकों की स्वच्छन्दता स्वामी के अहित का कारण होती है इसलिए स्वामी को सदा

उनकी देखरेख रखनी चाहिए नहीं तो इसके द्वारा हानि की अधिक सम्भावना रहती है। बस इतना ही विवेक मानव कल्याण के लिए पर्याप्त साधन है। जिस नियम का स्वयं के द्वारा आचरण न किया जाए, उसके लिए और को उपदेश देना व्यर्थ है। शारीरिक एकता के विचार को दूर कर आन्तरिक भाव से ही उस प्राणधन से अभिन्न होना उचित है।

प्यारे! शरीर की कृशता वा स्थूलता से ही किसी मानव को रोगी अथवा स्वस्थ नहीं समझना चाहिए क्योंकि रोग तो मानसिक होते हैं जो सदैव ही जीव को क्लेश दिया करते हैं और जिनसे जीव नाना प्रकार के दुःखों का शिकार होता रहता है। पूर्ण रूप से प्रभु का हो जाने पर जीव सदा के लिए निरोग हो जाता है, इसमें संशय नहीं। मानसिक रोग ही शारीरिक रोग का रूप धारण कर प्रकट होते है। दोनों प्रकार की निरोगता प्रभु की शरण में जाने से ही प्राप्त होती है।

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।।

(रा० ४/१७–१)

जब प्रभु ही सर्वत्र, सर्वरूप में विद्यमान हैं, फिर दुःख कैसा? प्यारे! यद्यपि मानव जीवन एक अमूल्य जीवन है किन्तु उसको बड़ी विकट परिस्थितियों में से गुजरना होता है। विचारवान् पुरुष प्रतिकूल परिस्थितियों के आने पर अधीर न हो, धैर्य तथा साहस के द्वारा उसे पदतल से कुचलता हुआ, जीवन पथ पर आगे बढ़ता है और साहस ही उस दुःखरूपी शत्रु का विनाश कर परम शान्ति की प्राप्ति कराने में समर्थ होता है। आज दिन तक कोई भी ऐसा मानव जगत् में नहीं हुआ जिसका जीवन सदा एक सी परिस्थिति में रहा हो। दुःख से अधीर होने वाला प्राणी उसके ऊपर कभी भी विजय नहीं प्राप्त कर सकता।

प्यारे! उपभोग की दृष्टि से मानव को सदा अपने से निम्न श्रेणी में रहने वाले लोगों की तरफ ही देखना चाहिए। बहुत से लोग संसार मे

ऐसे भी मिलते हैं जिनकी दशा को देखना भी असह्य हो जाता है। यह संसार जब स्वय सुखमय नहीं है तो अपने अधीन रहने वाले को सुखी किस प्रकार बना सकता है? अपने कर्मों का फल ही सुख तथा दु:खरूप से मानव के सामने आता है और समय पूरा होने पर स्वय चला जाता है। इन दोनों का सम्बन्ध रात–दिन के समान है। जैसे रात न होने पर दिन का कोई अस्तित्व नहीं वैसी ही दशा दु:ख के बिना सुख की है।

प्यारे! महापुरुषों की जीवनी में ऐसी अनेक घटनाएं मिलती हैं जिनको पढ़कर हृदय व्यथित हो उठता है किन्तु उन्होंने उस अवस्था में भी अपने धर्म से विचलित न होकर आई हुई परिस्थिति का प्रेम से स्वागत किया है इसलिए साधक को धैर्य के द्वारा आई हुई प्रतिकूल परिस्थिति का स्वागत करना चाहिए। प्रभु जब जीव को अपना बनाते हैं तो पहले उसे दु:खरूपा प्रतिकूलता की अग्नि में डालकर पवित्र कर लेते हैं। इसी धारणा से भक्त दु:ख में दु:खी नहीं अपितु अधिक प्रसन्न होता है। वह सोचता है कि मेरे प्रभु दु:ख के द्वारा समस्त कुत्सित संस्कारों का नाश कर अब मुझे अपनाएंगे।

प्यारे! दु:ख तो सदा जीवन में आनन्द का सन्देश देने के लिए ही आता है क्योंकि इसी से संसार का वास्तविक स्वरूप जान मानव सावधान हो अनन्त के सन्मुख होता है। प्रभु का स्मरण करते हुए उनसे यही वरदान मांगें कि प्रभु हमें सामर्थ्य दो जिससे हम दु:ख–सुख से भयभीत न हो उचित रूप से उनका स्वागत कर सकें। साधक को यह निश्चय करना चाहिए कि जो हमारे अनेक जन्मों के दूषित कर्म संस्कार रूप से अन्त:करण में छिपे हुए थे, उन्हीं को थोड़े में ही मिटाने के लिए प्रभु कृपा कर हमारे सामने दु:खरूप से उपस्थित करते हैं। प्रभु की इतनी महान् कृपा है कि इस विकट परिस्थिति में भी धैर्य और उनकी स्मृति रहती है। नाम–स्मरण ही परम साधन है जो कि सम्पूर्ण अशुभ संस्कारों

को भस्म कर मानव को पुनीत बनाता है। पूर्ण विश्वास ही प्रेम सिद्धि का कारण है। यद्यपि सर्वज्ञ प्रभु सबके आन्तरिक भावों को जानते हैं फिर भी भक्त के द्वारा उसकी आन्तरिक बातें सुनना उन्हें प्रिय है, जैसे बालक से मां को सुनना प्रिय लगता है। जब प्रह्लाद उसे खम्भ से प्रकट कर सकता है तथा काष्ठ, पाषाण आदि की प्रतिमा के द्वारा कोई उसे प्राप्त कर सकता है तो पूर्ण विश्वासी जो कि उसके किसी एक अभिन्न स्वरूप में भावना कर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा करता हो तो आश्चर्य कैसा? पूर्ण विश्वास ही सफलता की कुंजी है।

प्यारे! मानव जीवन में अनेक घटनाएं होती हैं और प्रत्येक घटना अपना कुछ विशेष अर्थ रखती है या यों समझें कि प्रत्येक घटना के माध्यम से प्रभु हमें कुछ सिखाते हैं किन्तु दुःख की बात यह है कि हम उस सीख को तो समझ नहीं पाते, केवल घटना को ही याद करते रहते हैं जिसके फलस्वरूप हमें अशान्ति का शिकार होना पड़ता है। जगत् के पदार्थ तो सदा ही मानव का त्याग कर रहे हैं पर आश्चर्य की बात है कि मानव उन्हीं पदार्थों पर ममता कर दुःखी हो रहा है। सामाजिक स्थिति को देखकर मानव को यह सीख लेनी चाहिए कि हम जगत् में किसी को अपना नहीं कह सकते। शरीर के सम्बन्धी तो केवल अनुकूलता के प्रेमी हैं, अपने नहीं। सदा साथ रहने वाले प्रभु को ही अपना सर्वस्व जान उन्हीं के साथ प्रेम में निमग्न रहना उचित है। जो उनका हो गया है, उसे जगत् के तमाशों से दुःखित होने का अवसर नहीं मिलता।

प्यारे! प्रभु में मन इसलिए नहीं लगता कि पूर्णरूप से आप उन्हें अपना नहीं समझते। जिस दिन यह निश्चय हो जाएगा कि प्रभु के सिवा और कोई अपना नहीं है, बस उसी समय मन अपने–आप उसमें लग जाएगा क्योंकि मन उसी में पूर्णरूप से लगता है, जिसको आप अपना समझते हैं। प्रेम से ही प्रभु का सम्बन्ध है, साधन से नहीं। अपने सुख का त्याग कर प्रेम

से ईश्वर के नाते सभी जीवों की उचित रूप से सेवा करना ही ईश्वर की भक्ति है।

प्यारे! किसी भी प्रकार के संकट आने पर मानव को धैर्य से काम लेना चाहिए। सत्य का सहारा लेने वाले की रक्षा प्रभु स्वयं करते हैं। आस्तिक ही प्रसन्नता का अधिकारी होता है। प्रभु के विधान में हमारा कल्याण निश्चित है। जिस समय मित्रगण विपरीत व्यवहार करते हुए दिखाई दें तो उस समय ऐसी भावना करनी चाहिए कि प्रभु परीक्षा कर रहे हैं। प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए, हे नाथ ! मेरा हित किसमें है, मैं नहीं जानता। आपके विधान में जो कुछ होगा वह मेरे लिए शुभ होगा, मैं सर्वरूप से आपकी ही शरण हूँ, आपका हूँ।''

प्यारे! जगत् में जीव की बड़ी विलक्षण दशा है। विषय रूप विष खा–खाकर मरता रहता है, फिर भी होश नहीं आता। सीमित अहंकार में आसक्त हो अपने नाम के लिए ही लोग अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं किन्तु आज तक धन, पद तथा परिवार वालों का नाम नहीं रहा। उसके अधिकारी तो प्रभु प्रेमी भक्त ही होते हैं इसलिए सदैव प्रभु–प्रेम को प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। संसार में मोहग्रस्त जीवों की दशा बड़ी ही शोचनीय है। न तो वे आप ही सन्मार्ग पर चलना चाहते हैं और न किसी दूसरे को चलते हुए देख सकते हैं इसलिए जो संसारी जीवों के प्रति सम्बन्ध को त्याग आत्म कल्याण के लिए भगवान् का हो, सर्वभाव से उनकी आराधना करता है, वहीं संसार में मुक्त हो परम सुख का भागी होता है।

प्यारे! मानव जीवन की सफलता तो परमार्थ पथ पर अग्रसर होने में ही है। आगे होता तो वही है जैसी प्रभु–प्रेरणा हो। यह मानव जीवन बड़ा अमूल्य है, इसे अधिक से अधिक सार्थक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

प्यारे! देखने योग्य तो केवल प्रभु ही हैं। प्रकृति तो अपना अनेक

रूपों से श्रृंगार कर उन्हें ही रिझाती है। वे उसकी तरफ दृष्टि नहीं करते। तब वह अपने सम्पूर्ण श्रृंगारों को समेटकर उनकी शरण लेती है। इसी को सृष्टि तथा प्रलय के नाम से कहा गया है। भुक्त भोग की स्मृति, अप्राप्त की कामना तथा प्राप्त पदार्थों की सुरक्षा की चिन्ता ही मानव के दुःख का कारण है। जो साधक अनुकूलता की कामना नहीं करता, सुख उसकी प्रतीक्षा किया करता है। बस यही सबसे बड़ी साधन की कुंजी है।

प्यारे! जीवन पर विचार करना ही मानव का परम धर्म है तथा यही उत्थान का मार्ग है। सबसे बड़ी भूल है अपने दुःख का कारण किसी और को मानना। दुःख तो अपनी ही भूल से मिलता है अन्यथा आनन्दमय की सृष्टि में दुःख का स्थान कहां? क्या मां की गोद में भी कोई दुःखित रह सकता है? मां की गोद कभी किसी अन्य के द्वारा छीनी भी नहीं जा सकती क्योंकि वह तो अपनी निज की होती है, उस पर अन्य का अधिकार कहां? कुछ समय ऐसे भी होते हैं जबकि मां के पास बच्चा नहीं जाने पाता। यद्यपि उस समय उसे दुःख सा प्रतीत होता है किन्तु उसमें भी उसका हित निहित होता है। ईश्वर सर्वव्यापी है, उसमें एकदेशीयता की भावना भ्रम के सिवा कुछ नहीं।

प्यारे! ईश्वर सबका अपना आप है, अपने से दूरी और भिन्नता कहाँ? साधक को ऐसा हठ कभी भी नहीं करना चाहिए कि मेरी जैसी ही सबकी भावना हो क्योंकि यह त्रिकाल में असम्भव है। सच–झूठ की तो बात ही नहीं, यह जगत् ईश्वरीय नाटक है। नाटक का अर्थ ही यह होता है कि दिखाई दे पर तथ्य कुछ न हो। सद्बुद्धि सबको एक सी नहीं मिलती, वह तो निज–कर्मानुसार ही प्राप्त होती है। साधक को सदा अपने सुधार की चिन्ता करनी चाहिए तथा समय मिलने पर सामर्थ्यानुसार समष्टि की सेवा करना उचित है।

प्यारे! बहुत से शास्त्र तथा शब्दों के अर्थ समझ लेने से कोई

विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कल्याण की प्राप्ति तो सत्य दर्शन से ही सम्भव है। सत्य अनन्त है, वह किसी ग्रन्थ–पंथ की मान्यताओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। शब्द जाल तो जीव के उलझने का ही साधन है। मुक्ति के लिए इसका कोई विशेष स्थान नहीं क्योंकि मुक्ति विवेक से, विवेक भगवत्कृपा से तथा भगवत्कृपा छल–कपट रहित भगवत् शरणागति से ही सम्भव है। यह बात मुक्त भक्त शबरी, ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा, धन्ना आदि के उदाहरणों से स्वयं सिद्ध है। विचारने से भी यह बात समझ में आ जाती है कि शब्द ज्ञान आदि यह सब मन बुद्धि के ही विषय हैं और मन बुद्धि आदि माया के गुणों के कार्य हैं। इनके सहारे परम तत्त्व सच्चिदानन्द श्रीराम जो माया से परे हैं का पता कैसे लगाया जा सकता है? अरे! उसी की सत्ता से यह जड़ माया भी तो सत्य सी प्रतीत हो रही है।

प्यारे! सत्य को जानने के लिए असत् का सहारा लेना प्रमाद के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्य के द्वारा ही सत्य का बोध हो सकता है, असत्य से नहीं। सत्य ही एक साधन है जिससे कि जगत् के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है और दुःख–सुख से मुक्त हो, यह जीव आनन्दमय की गोद में निमग्न हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति तथा वस्तु का आदर करते हुए उसमें सत्य के दर्शन तथा उससे प्यार करो, यही परम साधन है उस परम सत्य की प्राप्ति का। जो सदैव से है और सदा रहेगा, वही सत्य है। सत्य सर्वत्र है, सबमें रमा है, इसी से उसे राम कहते हैं। सभी के चित्तों को सतत आकर्षित कर रहा है, इसी से वह कृष्ण कहा जाता है, और समस्त जीवों के कल्याण कर्त्ता को शिव कहा जाता है। उनकी कृपा के बिना जीव जीवत्व से मुक्त हो शिव तत्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकता, ऐसा संत मत है।

प्यारे! प्राप्त बल, विवेक, विद्या तथा सम्पूर्ण पदार्थों का सदुपयोग करना ही मानवता है। अधिकार से नहीं, ईश्वर के नाते समष्टि की सेवा

करो। अपना अहित करने वालों के लिए भी ईश्वर से उनके हित की प्रार्थना करो। प्रभु अपने हैं ऐसा पूर्ण विश्वास करो। कुछ न चाहते हुए, विश्वरूप विश्वनाथ के काम आओ। चाह, प्रेम में कलंक है। शरीर जगत् को तथा शरीरी जगदीश को समर्पण कर निश्चिन्त हो जाओ। जो शरीर के नाते किया जाता है वह कर्म तथा जो ईश्वर के नाते किया जाता है, वह सब भजन है। कर्म बन्धन तथा भजन मुक्ति का साधन है। सभी प्राणी उसी पिता के पुत्र हैं जिसका मैं हूँ, ऐसा निश्चय जानो।

प्यारे! तुम्हें यह निश्चय होना चाहिए कि जीव दो प्रकार के प्रेम का अभिलाषी है, एक जगत् और दूसरा जगदीश का। जो जगत् के प्यार से सन्तुष्ट रहना चाहता है, उसे जगदीश का प्यार नहीं मिल सकता और जगत् अपूर्ण होने के नाते कभी पूरा प्यार दे नहीं सकता इसलिए जगत् को प्यार करने वाला प्यार की इच्छा लिये ही सतत दुःखित रहता है। जगदीश के प्यार का अभिलाषी स्वाभाविक ही जगत् को प्रिय होता है। जब वह जगत् के प्यार में मग्न होने लगता है तो जगदीश कृपा कर उसके सामने जगत् का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष कर देते हैं जिससे वह जगत् से निराश हो अपने प्रेम–पात्र से अभिन्न हो जाय। ऐसी स्थिति में जगदीश का प्यारा अपने परम प्रेमास्पद की असीम अनुकम्पा का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है। किन्तु इस रहस्य को सामान्य जीव जो जगत् के प्यार की प्रतीक्षा में हैं, नहीं समझ पाते, पर अनन्य चरणानुरागी भक्त इसी कारण आनन्द मग्न रहता है।

प्यारे! जिसने अपने जीवन का भार प्रभु को समर्पित कर दिया है, उसकी सम्भार प्रभु को करनी ही पड़ती है, चाहे वह समाज की दृष्टि में दूषित ही प्रतीत क्यों न हो। ऋषियों के मधुर व्यञ्जनों को त्यागकर उन्हें भावपूर्ण शबरी के झूठे फल प्रिय हैं, दुर्योधन के सुस्वादु मेवा को त्याग विदुर का साग प्रिय है। भक्त का जीवन सदा निर्भय एवं निश्चिन्त

होता है। समाज के नाना प्रकार के अत्याचारों को सहन करते हुए भी वह अपने पथ का त्याग नहीं करता। चिन्ता उसे होती है जो समाज से कुछ चाहता है। जिसे समाज से अपनी पूर्ति की कुछ चाह नहीं, उसको उससे भय तथा चिन्ता क्यों हो? क्या अपने आप का त्याग भी किसी काल में कोई कर सकता है?

प्यारे! जो कुछ करना है, वह करो। जो होना है, वह स्वय होगा। जिसमें मन टिकता है, वहीं टिकाना चाहिए। इसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है, पूर्ण रूप से प्रभु का होकर निश्चिन्त हो जाओ तथा विश्वनाथ के नाते विश्व के काम आओ। मिले हुए पदार्थ का सदुपयोग तथा साथियों के साथ प्रभु के नाते सद्व्यवहार करो, यही सेवा है। त्याग, प्रेम वा सेवा से ही क्रमशः शान्तं, शिवं, अद्वैतम् की प्राप्ति होती है जो कि प्रत्येक मानव की आन्तरिक अभिलाषा है।

प्यारे! व्यथित हृदय से प्रार्थना ही प्रभु की भक्ति का परम साधन है। शुभ कार्य तो हमेशा शुभप्रद होता है। शुभ कार्य में देश, काल, परिस्थिति की विशेष महिमा नहीं। अनन्त की सत्ता सदा सर्व के साथ नित्य रूप से निवास करती है किन्तु वासनाओं की दासता के कारण जीव उसकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। एक बार यदि भूलकर भी उसकी तरफ देख लेवे तो वह सदा के लिए दीनता से मुक्त हो सकता है। जो किसी काल में भी पूर्ण नहीं, उसके आधार पर पूर्णत्व की इच्छा ही सर्व दुःखों की जननी है। अतः मानव को सावधान हो, विवेक तथा विश्वास के साथ जीवन पथ पर आगे बढ़ना चाहिए। जो हम दूसरों को देंगे, वही अनन्त गुणा होकर हमें प्राप्त होगा। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम वही जगत् को दें जो हमें प्रिय हो। विवेक, विराग तथा आत्मीयता से ही त्याग, प्रेम तथा सेवा करने की शक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मानव जगत् को ही नहीं बल्कि जगदीश को भी अपना बना लेता है। यही

मानव मात्र का कर्त्तव्य है।

प्यारे! भक्ति–शास्त्रों में लिखा है कि गुरु तथा भगवत् विग्रह में राग करना अच्छा है किन्तु वह इस दृष्टि से कि जो मन का फैलाया हुआ ससार है, वह सिमटकर एक में ही निश्चय हो जाता है। फिर मन एकाग्र हो साधन–पथ पर आगे बढ़ता है। जैसे–जैसे मन और आगे बढ़ता जाता है उत्तोरत्तर अपने स्वरूप में यानी परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म में साधक की तल्लीनता होती जाती है और पूर्व आधार रूप गुरु या इष्टदेव को तथा अपने को भी वह उसी रूप में प्राप्त करता है।

प्यारे! यह प्रश्न हो सकता है कि जब आगे चलकर गुरु या इष्टदेव को अपने रूप में ही पाना है तो इनका अवलम्ब ही क्यों लिया जाए? इसका समाधान सिद्धान्ततः इस प्रकार होता है, जैसे एक व्यक्ति सुन्दर रास्ते पर चला जा रहा था, मार्ग में उसके पैर में एक कांटा गड़ गया जिससे कि वह दुःखी हो गया। उस कांटे को निकालने के लिए वह दूसरा मजबूत कांटा ढूंढता है और दूसरे कांटे को लेकर पैर पर गड़े कांटे को निकाल देता है और उससे उसे शान्ति का अनुभव होता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि जिस कांटे से कांटा निकाला गया और सुख मिला उस कांटे को जेब में डाल लेवे क्योंकि वह भी कांटा ही होता है। ठीक इसी रूप से जीवात्मा रूपी पथिक को जीवनरूपी जगत् के मार्ग में ममत्वरूपी एक बहुत बड़ा कांटा गड़ गया है जिससे वह दुःखी वा अशान्त है और उस कांटे को निकालने के लिए एक दृढ़ कांटे की आवश्यकता है यानी इस संसार से अनासक्त होने के लिए इष्ट अनुरक्ति की आवश्यकता है। जैसे कांटे से ही कांटा निकल सकता है, फूल से नहीं उसी रूप से राग से ही राग का नाश होता है, यह सिद्धान्त है। जैसे कांटा निकलने पर पूर्ववत् ही व्यक्ति शान्ति प्राप्त करता है, वैसे ही ममता का नाश होने पर यह ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्दमय मनुष्य अपने में ही

परमानन्द का अनुभव करता है और गुरु–इष्ट का राग भी इस प्रकार दिव्य अनुराग में परिवर्तित हो जाता है।

प्यारे! इस मायामय जगत् में अनेक रूपों से महामाया नृत्य कर रही है। इस तत्त्व को समझकर महात्माजन इस नृत्य को देखते हैं और इस नृत्य नाटक से उन्हें हर्ष तथा शोक कुछ भी नहीं होता। इस रहस्य को जानकर तुम्हें भी सदा प्रसन्न रहना चाहिए। जब तक इस पञ्च भौतिक शरीर में अपनत्व है तब तक भक्ति कहाँ? सर्व समर्पण के बाद ही भक्ति का उदय होता है। संसार में मान–अपमान माया के कार्य हैं, यदि यहीं तक रह गया तो संसारी वा महात्मा में क्या अन्तर ?

मान बड़ाई ईर्षा, मन में भरीं अनेक।
नारायण साधू बना, देखउ अचरज एक।।

साधु और सम्मान का क्या सम्बन्ध? विचार करो, आत्मा मेरी और तेरी कैसे? क्या राम से भिन्न भी कोई तत्त्व है? मैं तथा मेरा भ्रम चित्त की ही महिमा है।

प्यारे! शीशे का क्या दोष यदि आंखें नहीं हैं? अपना ही मुंह शीशे में दिखाई देता है, जैसा होगा वैसा ही दिखाई देगा। काला चश्मा लगा के लाली नहीं दिख सकती है। कई बार बताया गया है कि साधक को हृदय में जगत् की स्तुति–निन्दा 'दोउन के सिर धूर' ऐसा दृढ़ निश्चय करके आगे बढ़ना चाहिए।

लोग कहैं पोच, सो न सोच न संकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी, जाति पाँति न चहत हौं।
अपने अकाज काज, राम ही के रीझे खीझे,
प्रीति की प्रतीति, मनमुदित रहत हौं।

यह तुम्हारा बालकपन है। जिसे तुमने जगत् समझा है, वही मेरी मां की गोद है और जिसमें आनन्दमग्न हो बावरा खेलता है। अब इससे

सुन्दर स्थान कहा बनाया जाये? क्या मां की गोद से भी कोई सुन्दर स्थान होता है? देश ही सप्त समुद्ररूपी खाई से घिरा हुआ किला, पृथ्वी शय्या, आकाश छत्त जिसमें तारा गणरूपी मणियां जगमगा रही हैं। सेवा के लिए पिता की आज्ञा से अनन्त ऋिद्धी–सिद्धि दासियां, सूर्य का गर्म तथा चन्द्रमा का शीतल प्रकाश, पवन का पंखा, जगत् क्रीड़ास्थली और आनन्द ही जिसका भोग है, उस शंहशाहों के शहशाह राम के लाल विश्वात्मा को अशान्ति वा चिन्ता कैसी?

प्यारे! जीवन की डोर परमपिता के हाथों में देकर निश्चिन्त हो जाओ, यही परम उपदेश है शान्ति के लिए। मदारी के साथ का बच्चा मदारी के खेल में दु:खित नहीं होता, वह मदारी की कृपा से सब भेदों को जानता है। जब जो समय आता है, वह कार्य अपने–आप सम्पन्न हो जाता है। इसके लिए मैं–तुम का भाव ठीक नहीं। सर्वभाव से राम का हो जाने पर चिन्ता कैसी? होलिका स्वयं जल गई, प्रह्लाद का बाल भी बांका नहीं हुआ। बने हुए का विनाश भी निश्चित है, उसे समय आने पर कोई भी शक्ति हटा नहीं सकती। अविनाशी का कोई विनाश करने में समर्थ नहीं है।

प्यारे! ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखो। संत तथा भगवन्त हर समय, हर जगह उपस्थित हैं और वे समदर्शी हैं। श्रद्धानुसार ही प्राणी उनसे कल्याण को प्राप्त करता है। अन्धे के कहने से कि सूर्य नहीं है क्या सूर्य नहीं रहता? ईश्वर भरोसा दु:ख से बचाता है। अज्ञानता का नाम नरक है। मैं शरीर हूं, यही अज्ञान है। मैं आत्मा हूँ, यह बोध ही ज्ञान है और इसी को मुक्ति कहते हैं।

प्यारे! स्वतन्त्रता ही पुरुष है, परतन्त्रता ही स्त्री है। जीव स्त्री तथा ईश्वर पुरुष है। माया से ग्रसित आत्मा जीव, तथा माया–मुक्त जीव ही आत्मा है। एक ही तत्त्व के दो भेद हैं जैसे स्वर्ण और आभूषण, स्वर्ण में ही आभूषण की कल्पना है। प्यारे !

कहता है जो कहन दे, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठि के, अपना भवन बुहार।।

जो सुबह से उठकर दूसरों के घर का कूड़ा देखता है, उसका अपना घर भी कूड़ापूर्ण बना रहता है। उचित तो यह है कि अपने घर को साफ करे, हो सके तो दूसरे का भी। निन्दक अच्छा है जो तुम्हारी कमियों को खोजकर बताता है। यदि तुम सज्जन हो तो उन्हें निकाल दो।

प्यारे! तुम्हारा शत्रु वह है जो कि तुम्हारे सामने तुम्हारी स्तुति करता है तथा हितैषी वह है जो तुम्हारे दोषों को बतलाता है।

निन्दा करे सो धोबी कहिये, स्तुति करे सो भाट।
इन दोनों से परे जो, सोई भक्त विराट्।।

अपने को सावधान रखो। हाथी को देखकर कोई प्रणाम करता है, कोई ढेले मारता है किन्तु हाथी अपनी चाल से ही चलता है। काने को काना कहने पर बुरा लगता है। आंख वाले को कोई काना कहे तो वह हंसता है क्योंकि वह जानता है कि यह उसका अज्ञान है।

प्यारे! संसार की किसी भी अवस्था में जीव को पूर्ण सुख तथा शान्ति प्राप्त करने की आशा नहीं है। हो ही क्योंकर! जहां पर त्रितापों का ही साम्राज्य है, वहां सुख कैसा? जो प्रभु के श्रीचरण–कमल में प्रेम करने वाले हैं, उन्हें उसका उल्टा ही प्रभाव दिखाई पड़ता है। जो वस्तु संसारी मनुष्यों को सुखद है, वही उनके लिए दु:खमय होती है और जिस दशा में संसारी लोग दु:खी होते हैं उसमें प्रभु के भक्तों को महान् सुख होता है। इसी विचित्र दशा को देखकर तो जगत् को उनका गुलाम होना पड़ता है।

प्यारे! जगत् में जितने जीव हैं, प्रभु ही उनके जीवन के आधार हैं और प्रभु को प्रमोद प्रदान करने के लिए ही उनकी माया जीवों के माध्यम से अनेक प्रकार के खेलों की रचना करती है। जो कुछ हो रहा है, सब प्रभु की माया के द्वारा ही जानो, जीव तो केवल निमित्त मात्र है। अज्ञानता के नाते

वह अपने को सर्व का कर्त्ता मानकर बन्धन में जा फंसता है। उसी का फल मिलता है उसे दुःख। कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार की क्रिया करने में समर्थ नहीं है। प्रभु प्रेरित हो जो कुछ कार्य करता है, वही भगवान् की पूजा है। ऐसा निश्चय करके अपने करने योग्य कार्यों को करते हुए भगवान् का स्मरण करना, यही मानव का कर्त्तव्य है। परिवार की सेवा शरीर के नाते नहीं, प्रभु प्रेम के नाते करते हुए उसका स्मरण करो।

प्यारे! सभी जीव सदैव जीवननाथ की छत्रछाया में निवास करते हैं। एक क्षण के लिए भी उनसे कोई अलग नहीं हो सकता। आनन्द तो पूर्ण रूप से आनन्दसिन्धु की शरण में है। प्रत्येक क्षण उनका स्मरण करना, यही जीव का एकमात्र कर्त्तव्य है। बड़ा भाग्यवान् वही है जिसका प्रभु चरणों में प्रेम है। शरीर से चाहे जिस दशा में रहे, मन प्रभु में होना चाहिए।

प्यारे! मानवीय तथा दैवी कृपा में इतना ही भेद है कि एक तो अपनी पूर्ति के निमित्त तथा दूसरी दूसरे के निमित्त से की जाती है। जिसे कुछ भी नहीं चाहिए, वही सब कुछ का अधिकारी होता है। कार्य कर्म को कर्त्तव्य समझकर करना, यह जीव के कल्याण सृजन का परम साधन है।

प्यारे! यदि पानी में सरसता, अग्नि में तेज, सूर्य में प्रकाश तथा चन्द्रमा में शीतलत्व है तो इसमें उनकी कुछ भी महिमा नहीं क्योंकि यह प्रभु प्रदत्त उनमें स्वाभाविक गुण हैं। यदि यह न हों तो ये दोषयुक्त अवश्य कहे जायेंगे। कारण कि स्वाभाविक गुणों का अभाव ही दोष है,दोष नाम की दूसरी वस्तु नहीं।

प्यारे! भगवत्प्रेम में कर्त्तव्य का ध्यान न रहना प्रमाद नहीं, यह तो प्रसाद है। साधक को भगवत्प्रेम को मुख्य तथा व्यवहार को गौण समझना चाहिए। साधन में अधिकारी भेद से मार्ग अनेक हैं–ज्ञान योग, भक्ति योग आदि–आदि। यह साधक की आन्तरिक अवस्था पर ही निर्भर है कि उसके लिए कौन सा मार्ग उपयुक्त होगा। नाम–स्मरण से श्रेष्ठ साधन

मेरी दृष्टि में संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए दूसरा नहीं। जीव जन्म से ही रोना शुरू करता है, मां के उदर में रोना, जन्मते ही रोना, आगे जीवन–भर रोने के लिए संसार की दासता स्वीकार कर लेने पर भी रोने से छुटकारा न पाना, कितने आश्चर्य की बात है! यदि एक बार भी इस रोने से छूटने के लिए व्यथित हृदय से प्रभु के समक्ष रोना हो जाय तो सदैव के लिए इससे छुटकारा मिल जाए। जितना दु:ख एक सन्तान के प्रसव काल में एक नारी को होता है, उसका सौवां हिस्सा भी दु:ख मीरा को जन्म भर में न मिला होगा किन्तु भगवत्प्रेम के सम्बन्ध से मिले हुए इस स्वल्प दु:ख ने मीरा को विश्व की निधि बना दिया।

प्यारे! इस संसार में आनन्द कहां? जलते हुए हृदय को शान्ति प्रदान करने के लिए केवल एक प्रभु के नाम का सहारा है। इस आह की चिन्गारियाँ किसी पर पड़कर उसे जला न दें इसलिए प्रेमी प्रसन्नता का पर्दा अपने ऊपर डाले रहता है। साधन का फल केवल विश्वासयुक्त अखण्ड स्मृति है। कोई भी साधना मानव से नहीं बन सकती जिससे वह अनन्त की कृपा का अधिकारी हो सके क्योंकि साधन सामग्री अपूर्ण तथा अनन्त पूर्ण है। जीव के पास श्रद्धा, विश्वास तथा अनित्य से उपरामता, यही प्रभु के सान्निध्य या उसकी कृपा प्राप्ति के पर्याप्त तथा उपयुक्त साधन हैं। शरीर अनित्य तथा कर्म–विपाक अर्थात् केवल कर्मफल भोग का ही साधन है। उसके आधार से की हुई क्रिया प्रभु प्रेम में विशेष महत्त्व नहीं रखती है। कहने का अभिप्राय यह कि यदि श्रद्धा–विश्वासयुक्त जीवन हो तो शारीरिक क्रिया के बिना भी प्रबल अविद्या का विनाश किया जा सकता है।

प्यारे! यह सम्पूर्ण दृश्य प्रभु क्रीड़ा का सामान है। जगत् तथा जीव उसी के अभिन्न स्वरूप हैं। वह एक होते हुए भी अनेक रूप वाला है और अनेक रूपों में दिखाई देते हुए भी वह मंगलमय मनोहर मूर्ति

श्यामसुन्दर ही है। तत्त्वत: उसके स्वरूप को जानकर और उसकी लीला समझ जो अभिनय मिला है, उसे पूर्ण करो। यदि प्यारे से प्रीति की चाह है तो उसकी दी हुई प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहना होगा।

प्यारे! गृहस्थ जीवन में ही मानवता का पूर्ण विकास होता है और यह वह क्षेत्र है जहां पर उस अखण्ड, अनन्त और व्यापक ब्रह्म को भी शिशु बनकर आना पड़ता है, और की तो बात ही क्या? किन्तु प्यारे! यह तब सम्भव होता है जबकि निज कर्त्तव्य का सप्रेम पूर्णरूप से उसकी आज्ञा समझकर पालन किया जाय। मानव को चाहिए कि वह अपने जीवन का लक्ष्य केवल प्राकृतिक भोगों की प्राप्ति तथा इन्द्रिय सुख ही न समझे। यह गृहस्थ आश्रम तो प्रेम के पाठ को सीखने की पाठशाला है किन्तु इसको यहीं तक सीमित रखना उचित नहीं। यह प्रेम–रूप अमूल्य निधि उस प्राणधन प्रियतम की धरोहर है, ऐसा समझ उन्हें समर्पण करके ही पूर्णता की प्राप्ति सम्भव है। यह बेचारा संसार तो स्वय अपूर्ण है, इससे पूर्णता की आशा करना भूल नहीं तो और क्या है? जो स्वयं अर्पूण एवं दु:खरूप है वह और को पूर्ण एवं सुखरूप कैसे बना सकता है?

प्यारे! प्रत्येक अवस्था में प्रभु की लीला का अनुभव करना ही भक्त का जीवन है। वह आद्याशक्ति अपने प्रियतम को रिझाने के लिए किस समय में किस प्रकार के नाटक का समारोह करती है, यह कौन जाने? जो उसे प्रिय है वही हो रहा है। उसकी प्रियता में ही अपनी रुचि को मिला देना शुद्ध प्रेमी का स्वरूप है। जब तक प्रभु पर पूर्ण विश्वास नहीं होता तथा मन, बुद्धि वा शरीरादि में आसक्ति रहती है और इनके सगठन द्वारा साधन का भरोसा होता है, तभी तक साधन करने का भूत सवार रहता है किन्तु यह समझ में नहीं आता कि क्या कभी सीमित साधन द्वारा असीम को प्राप्त किया जा सकता है? हम कैसे भी हैं उनके हैं, वे चाहे अपना मानें या न मानें, ऐसा दृढ़ भाव ही प्रेम का स्रोत है।

प्यारे! जब तक जगत् का कोई भी अंग अपना सहायक होता है तब तक जगदीश नहीं सुनते हैं, यह सत्य है। जब तक जगत् पर भरोसा है तब तक जीवन में सुख–दु:ख आदि का भोग है। जो कर्म का अभिमान बन्धन का कारण बना हुआ है, पुन: उसमें ही आसक्ति हो रही है, यह भूल नहीं तो और क्या कहा जाए? अनुकूल परिस्थिति में ही हम भजन करेंगे, ऐसी कामना भजन की कामना नहीं, वह तो परिस्थिति की कामना है। जिस समय बालक अपने को मां से दूर जानता है, उस समय वह सभी बाहरी वस्तुओं को त्याग पवित्रता तथा अपवित्रता के भाव से रहित हो, व्याकुल हृदय से मां को पुकारता है, तब मां उसकी व्याकुलता से द्रवित हो दौड़कर उसे गोद में उठा लेती है क्योंकि आर्त शब्द ही मा के हृदय को द्रवित करने का कारण होता है। जैसे कोई बच्चा आसन आदि लगाकर रोना शुरु करे तो मां दूर से ही देखकर समझ लेती है कि वह रो नहीं रहा है, स्वांग कर रहा है, वैसे ही प्रभु सबके आन्तरिक भावों को जानते हैं। क्या कभी पूर्ण प्यासे को यह जानने की इच्छा होती है कि यह पानी कैसा और कहां का है? क्या पानी न मिलने की सम्भावना से प्यास कम हो सकती है? यदि ऐसा सम्भव नहीं तो पूर्णत्व को प्राप्त करने की ही प्यास क्योंकर कम हो जाती है, यह समझ में नहीं आता।

प्यारे! प्रेम तो हृदय की सम्पत्ति है, उसका शरीर से सम्बन्ध होते ही मोह तथा राग रूप में परिवर्तित हो जाती है। यद्यपि कर्म की अपेक्षा भाव की अधिक महिमा है तथापि व्यवहार का पालन करना भी आवश्यक है। अपने को प्रभु कितना प्यार करते हैं, उतना हम नहीं जान सकते क्योकि जिसको कुछ चाहिए वह प्रेम नहीं कर सकता, वह तो राग करता है। प्रेम वही कर सकता है जिसको कुछ नहीं चाहिए। चाह रहित प्रेम की नापतौल नहीं हो सकती। पूर्णत्व में ही अचाह सम्भव है और प्रभु का स्वरूप ही पूर्ण है। अत: प्रभु के प्यार की महिमा का बोध पूर्णरूप से मानव

को कैसे हो सकता है? मां बच्चे का जितना हित चाहती है, उससे भी अनन्त गुणा अधिक जीवों का हित प्रभु चाहते ही नहीं अपितु करते भी हैं। विशेष क्या कहा जाय, विश्वास की कमी ने ही हमें उनसे दूर कर रखा है।

प्यारे! किसी कार्य की अपूर्णता सदा असमर्थता की निशानी है। भविष्य की आशा ने ही साधक को साध्य और प्रेमी को प्रियतम से विलग कर रखा है तथा यही सम्पूर्ण दु:खों की जड़ है। विरह के गीत गाना कुछ अर्थ नही रखता वह तो केवल वाणी का विलास है। मैं तेरा हूँ, इतना कहकर भी उनसे दूर रहना कहां की प्रीति है? बुद्धि अपनी रक्षा के लिए सदा व्यापकता का आधार लेती है अन्यथा प्रेम प्रवाह में इसका ठिकाना कहां?

प्यारे! पश्चात्ताप तो सम्पूर्ण पापों की समाप्ति की सर्वश्रेष्ठ औषधि है किन्तु होना चाहिए हृदयपूर्ण। अपूर्णता तो किसी को प्रिय नहीं है, इसका अनुभव तो प्रत्येक साधक करता है। विरह की दशा तो वही जानता है जो पूर्ण वियोगी हो। बिना अपने को मिटाये उन्हें पाना सम्भव नहीं।

प्यारे! विरही जीवन का अनुभव करने का सौभाग्य तो किसी प्रेमी भक्त को ही प्राप्त होता है। बिना विरह वेदना के परमानन्द की प्राप्ति कहाँ? प्रेमी भक्त के विरह व्यथा से उत्पन्न होने वाले दु:ख में ब्रह्मलोक के सुख से भी अनन्त गुणा अधिक उत्कृष्ट रस छिपा हुआ रहता है। जब संसार के समस्त रस फीके लगने लगते हैं तब प्रियतम को हृदय की वेदना सुनाना ही प्रार्थना है। मरना सरल है पर जीना कठिन है इसीलिए तो प्रभु ने कहा है कि **'कोऊ एक पाव भगति जिमि मोरी'** और सन्तों ने भी इसका समर्थन किया है **'रघुपति भगति करत कठिनाई'**। प्रभु–प्रेमी के हृदय में किञ्चित् मात्र भी भेद के लिए स्थान नहीं रहता है क्योंकि भक्त का हृदय विशाल होता है तभी तो अनन्त ब्रह्मण्डनायक उसमें निवास करते हैं। भला संकीर्ण हृदय में प्रभु का निवास कैसे हो सकता है? क्या कभी सीपी में समुद्र समा सकता है?

प्यारे! प्रेम के रहस्य को जानने वाले प्रेमीजन अपने प्रियतम के प्रति कठोरता, निठुरता, निर्दयता आदि शब्दों में उलाहना देते हुए न कहने योग्य शब्द भी कह देते हैं और बाद मे उसी की क्षमा याचना किया करते हैं। इसी आनन्द के लिए प्रेमस्वरूप प्रभु नाना प्रकार से प्रेमी भक्तो को प्रमोदित किया करते हैं। इस आनन्द की आकाक्षा देवगणों को भी सतत व्यथित किया करती है किन्तु उनके भाग्य में कहाँ? सांसारिक बन्धनों से मुक्त जीव ही परम प्रेम का आस्वादन कर सकता है। बिना विवेक के सांसारिक बन्धन दूर नहीं हो सकते इसलिए सत्संग तथा साधन के द्वारा विवेक का सम्पादन करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए तभी साधक उस अनन्त प्रेम रस का अधिकारी हो सकता है।

प्यारे! किसी भी वस्तु का अन्त अपूर्णता में नहीं देखा जाता, उसी प्रकार किसी दशा का अन्त भी उसकी अपूर्ण अवस्था में नहीं हो सकता। दु:ख तथा विरह का अन्त उसकी पूर्णावस्था में ही निहित है। जब किसी भी प्रकार का दु:ख स्थायी नहीं रहता तो प्रभु के वियोग से उत्पन्न होने वाला दु:ख स्थायी क्यों रहेगा? उनकी रुचि में अपनी रुचि और उनकी प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता मान लेने पर खेद के लिए स्थान नहीं रह जाता। प्रियतम का विरह ही उनसे मिलने का एक सुन्दर साधन है। प्रतिपल मिलन की प्रतीक्षा में ही जीवन यापन करना प्रेमी का स्वरूप है। हम कैसे भी हैं, उनके हैं और वे ही हमारे सर्वस्व हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय ही उनके निकट पहुंचने का उपाय है। कर्म तो प्राकृतिक साधनों के द्वारा किये जाने हैं, भला ये उनसे मिलने के साधक कैसे हो सकते हैं? जब तक कुछ करने की रुचि है, तब तक पूर्ण समर्पण कहा? क्योंकि समर्पण समस्त साधनों की सिद्धि है। प्रत्येक दशा में प्रभु की कृपा का अनुभव करना ही भक्त का जीवन है।

प्यारे! प्राणधन प्रियतम की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन व्याकुलता

ही है किन्तु अभागा जीव अपने को बचाने के लिए व्यापकता की सहायता लेता है और भविष्य की आशा पर जीवित रहता है। इसी आधार पर वह अपने को मिटा नही पाता और बिना अपने को मिटाए नित्य योग का रसास्वादन नही हो सकता। पूर्ण समर्पण के पश्चात् कुछ करना शेष नहीं रहता और पाने की चाह तभी तक रहती है जब तक कि अहं जीवित है या यों कहिए कि जब तक उन्हें समर्पित नहीं हो गया। सद्भावपूर्ण ''मैं उनका हूँ और वे ही हमारे सर्वस्व हैं,'' ऐसा नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर तो गोपियों की तरह उनकी प्रसन्नता के लिए ही सभी क्रियाएं होती हैं, फिर भी कर्त्ता–भोक्ता आदि का भाव कहा? यदि वे हमें पतित बनाकर ही प्रसन्न होना चाहते हैं तो इसमें घबराहट क्यों? राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है', ऐसी प्रेमी भक्तों की मान्यता होती है।

प्यारे! आत्मीयता ही प्रियता की जननी है। प्रेम–पथ के पथिक को रोने के सिवाय और कोई उपयुक्त साधन नहीं। पूर्ण समर्पण के पश्चात् व्यक्तित्व का अभिमान नाश हो जाने पर कमी रह ही नहीं सकती। जहां पूर्ण प्रभु विराजते हैं, वहां कमी को स्थान ही कहां? प्रेमी के हृदय में अहर्निश आनन्द के अतिरिक्त दूसरे का दूर से भी दर्शन नहीं।

प्यारे! प्राकृतिक विधान से जो कुछ होता है, उसका स्वागत करना ही अनन्त की पूजा है। जिस क्रिया से प्राणधन प्रियतम को प्रसन्नता होती है, वह प्रकृति मां करती है। इसमें अपनी इच्छाओं को त्याग कर उसके नाटक में पात्र रूप हो अभिनय को पूरा करना ही वास्तव में पाठ है। कर्मप्रधान जीवन मानव का तथा भाव प्रधान जीवन ही भक्त का जीवन है इसलिए भक्त को भाव ही प्रिय होता है। भक्त के जीवन में साधन नहीं होता, वह तो साधन स्वरूप है।

प्यारे! जप और सुमिरन में यही अन्तर है कि जप में संख्या की प्रधानता होती है और सुमिरन में भाव की। जप से अधिक महिमा

सुमिरन की है। सुमिरन से ही वियोगाग्नि प्रज्वलित होती है। वियोग की अग्नि शुभ तथा अशुभ वासनाओं को भस्म कर वियोगी को उज्ज्वल बना देती है। फिर तो उसका अपने प्राणधन प्रियतम से सदा के लिए योग हो जाता है जिसकी उसे नित्य चाह है।

प्यारे! प्रेमी से प्रियतम की दूरी कैसे? क्या किसी काल में प्रभा रहित सूर्य, वाणी रहित अर्थ सिद्ध हो सकता है? कार्य के द्वारा ही कारण की महिमा का ज्ञान होता है। शक्ति के आधार पर ही सत्ता स्थित है अन्यथा उसे कौन जाने? प्यारे! इसका हिसाब तो उस गणित के आधार पर किया जाता है जहां एक और एक मिलकर एक होते हैं, दो नहीं! कहीं भी किसी अवस्था में क्यों न हो, जो अपना है वह तो अपना ही रहेगा और सदा अपने पास रहेगा। जो दूर है, वह अपना कैसा?

प्यारे! प्रभु प्रेम प्राप्त करने के लिए उनके वियोग से व्यथित हो रोना ही परम साधन है। प्रभु की महती कृपा का फल है व्याकुलता। यह प्रज्वलित अग्नि के समान है, जिस हृदय में प्रकट होती है, उसकी शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार की वासनाओं को भस्म कर पुनः आप भी शान्त हो जाती है। विरह की दशा अग्निवत् है, जैसे सम्पूर्ण लकड़ियों को भस्म कर यह भी नहीं रहती। जब तक साधक को अनुकूलता की कामना रहती है तभी तक बाधाओं का अस्तित्व रहता है। प्रेम तथा राग में यह अन्तर है कि प्रेम देना तथा राग लेना सिखाता है। साधक को यह नहीं समझना चाहिए कि राग निकृष्ट है क्योंकि प्रभु में राग होना भक्त का पहला चरण है। प्रथम सभी जीव यही भाव लेकर प्रभु की शरण जाते हैं जिसका फल है निष्काम अवस्था की प्राप्ति। एक अवस्था जीवन में वह भी आती है जब कि भक्त भगवान् को भी नहीं चाहता, उसकी चाह होती है केवल प्रेम! कहीं भी रहें, कैसे भी रहे किन्तु तुम्हारी प्रेम पूर्ण याद में रोते ही रहें–यही उसकी मांग होती है। प्रभु की अहैतुकी कृपा से स्वयं यह जिसे

प्राप्त हो जाए, वह घबराये क्यों? मधुर मिलन की प्रतीक्षा उस मिलन से कहीं अधिक सुखद है जिसमें वियोग का दु:ख निहित हो।

प्यारे! यही खेल है उस खिलाड़ी का। किसी को चाह है रोने की और कोई उससे ऊबता है। क्या विचित्र दशा है प्रेमियों की! एक गोपी को ध्यान करते देख नारद ने पूछा– सबका परम ध्येय तो तुम्हारे पीछे–पीछे दौड़ता है, तुम किसका ध्यान करती हो? उन्हें उत्तर मिला– मन से श्रीकृष्ण को निकालने का प्रयत्न कर रही हूँ। पूछा– क्यों? उत्तर मिला– घर का कार्य नहीं करने देता। यही उलटी रीति है सदा से उनके प्रेमियों की! अब से ही सावधान! इस पथ में कांटों के सिवा और कुछ भी नहीं। रोना ही जीवन का कार्य हो जाता है। तन का ही नहीं, वह मन का भी काला है। अरे! उसकी प्यार भरी दृष्टि ने ही तो अब यह रोना दिया है।

प्यारे! प्रेम में जप का उतना मूल्य नहीं है ज़ितना कि भाव का। ज़रा विचार करके देखो, जिसमें अपनत्व होता है क्या उससे प्रेम किया जाता है? क्या पतिव्रता स्त्री अपने पति के नाम का जप करके ही उसकी प्रिय बनती है? नहीं प्यारे! वह कहीं भी, किसी भी अवस्था में क्यों न हो, कुछ भी क्रिया क्यों न करती रहे, है तो उसी की ही। जैसे बच्चा मां के सहारे रहकर निश्चिन्त रहता है, वही दशा भक्त की होती है। प्यारे! पतिरूप में परमात्मा की मूर्ति की भावना कर उसकी सेवा में प्रभु पूजा की पूर्ति करना ही नारी धर्म की श्रेष्ठता कही गई है किन्तु वही जब सीमित भाव में आबद्ध हो जाती है तो बन्धन का कारण हो जाती है। इसलिए उस परम प्रियतम को प्राप्त करने की भावना से पूरिपूर्ण हो एकनिष्ठा से समष्टि की सेवा करना मानव का कर्त्तव्य है। जीव प्रभु से अभिन्न हो परम शान्ति को प्राप्त करे, यही अपनी अभिलाषा है।

प्यारे! मछली का जीवन जल है क्योंकि उसका निर्माण ही जल तत्त्व से होता है। अत: मछली जल से विलग होकर जीवित नहीं रह

सकती, यह नियम है। उसी प्रकार कोई भी जीव जीवननाथ के बिना रह नहीं सकता। जल तो जड़ पदार्थ है, उसे क्या पता कि प्रेम क्या बला है इसलिए वह उसकी चाह नहीं करता। किन्तु जीवननाथ के लिए ....?

प्यारे! वह प्राणधन प्रियतम तो मन से भी अधिक नज़दीक है, फिर बाहर की बातें क्या? उचित अरमान प्रभु स्वयं पूर्ण करते हैं, बाकी का त्याग ही प्रेमियों ने अच्छा बताया है। मानव जीवन में निराशा का स्थान नहीं, ऐसा कई बार कहा गया है। जगत् में जितने जीव हैं, सब प्रभु के, प्रभु में वा प्रभु से हैं। प्रेम के सिवाय प्यारे को कुछ भी प्रिय नहीं है। दया उसकी याद में है। गोपी भाव सर्वश्रेष्ठ है। मानव के हृदय में अनेक जन्म के संचित पुण्य से ही वह उदय होता है। जो सदा दिल में रहे वह दूर कैसे?

प्रेम की है भूख उसको, प्यास प्यारे प्रेम की।
विश्वभर का प्रेम मिलने पर भी जी भरता नहीं।।
नाम तक लेता न जो, मुख से कभी उस देव का।
प्यार वह उसको भी करता, भेद कुछ रखता नहीं।।
खोजता फिरता निरन्तर, बावरा बन जो उसे।
प्राणपति प्रियतम उसी को रीझ गल मिलता वहीं।।

प्यारे! अपने से कोई किसी काल में दूर नहीं रह सकता, यह प्राकृत नियम है। लिखने तथा बोलने वालों से अधिक रस न बोलने वालों को प्राप्त होता है, ऐसा अपना अनुभव है। इच्छाएं तो मन से ही उत्पन्न होती हैं। इनकी संख्या अनेक होने से ही ये नित्य सी प्रतीत होती हैं। एक दो निकलने पर चार–छः और तैयार हो सामने आ जाती हैं। इसी से इनकी पूर्ति का उचित उपाय बताया गया है इनका त्याग। उस प्राणधन प्रियतम के प्रेम की अभिलाषा ही सम्पूर्ण इच्छाओं को नाश करने में समर्थ है।

प्यारे! तड़पन में ही वास्तविक रस का भान होता है, यह सत्य जानो। तड़पन रहित प्रेमी का हृदय शोभनीय नहीं। उचित इच्छा की पूर्ति तो उन अन्तर्यामी की प्रेरणा से हो ही जाती है। फिर सन्देह क्यों? निराशा कैसी?

प्यारे! रसात्मिका वृत्ति का नाम राग है, यह राग प्रेम की पहली मंज़िल है। सांसारिक राग–भाव का नाश होने पर अथवा कामना रहित होने पर ही प्रेम का उदय होता है, ऐसा प्रेमियों का मत है।

प्यारे! जगत् से भोग तथा जगदीश से योग का नित्य सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे का होना सम्भव नहीं। अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला ही कर्मयोगी कहलाता है। जिस अवस्था में प्रभु ने रखा हो, उसी के अनुसार उनकी आज्ञा समझ पूर्ण शक्ति से कर्त्तव्य पालन करना ही प्रभु पूजा है। जो कुछ हुआ है, होता है या होगा, यह सब प्रभु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, ऐसी दृढ़ धारणा ही प्रियतम से सदा एक बनाती है। देश, काल वा परिस्थिति से प्राप्त प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए प्यारे की ओर अग्रसर होओ।

प्यारे! ऐसी कोई अवस्था या देश, काल व परिस्थिति जीवन में नहीं है, जो सदा एक सी बनी रहे। जो संयोग के सुख से सुखी नहीं होता, उसे वियोग का दुःख भी नहीं होता क्योंकि दुःख तो केवल उसके लिए है जो कि सुख का उपभोग करता है। जो सुख किसी व्यक्ति या वस्तु के संयोग से प्राप्त होता है, वह अनित्य है, उसका अन्त अवश्य ही दुःखमय होगा, इसमें संशय नहीं। यदि तुम कहो कि मेरा दुःख व्यक्ति या वस्तु के वियोग का नहीं, यहं तो अपने प्राणधन प्रियतम के वियोग से हुआ है जिसे भगवान् कहते है। तो प्यारे! यह एक हंसी की बात होगी क्योंकि जो अपना प्रियतम है, वह तो क्षणमात्र के लिए भी अपने से दूर नहीं होता और यदि दूर होता है तो उसे प्रियतम या भगवान् कहना ही भूल है।

प्यारे! कोई ऐसा देश, काल नहीं है जबकि तुम्हारा प्राणधन प्रियतम तुम्हारे साथ न हो। वह स्वयं तुम्हारे बिना एक पल भी शान्त नहीं रह सकता। क्या किरण के बिना सूर्य, तरंगों के बिना समुद्र, प्रकाश के बिना दीपक का अस्तित्व रह सकता है? क्योंकि कार्य के द्वारा ही तो कारण की शोभा है अन्यथा उसका अस्तित्व ही क्या?

प्यारे! यह प्राप्त किया हुआ शरीर तो जगत् के कार्य के लिए है। यह सदा एक रूप वा स्थान विशेष पर रह नहीं सकता। अतः इससे सदा योग हो, असम्भव है। आत्मरूप से तो प्रभु सदा ही सभी के साथ हैं। कोई ऐसा समय नहीं जबकि क्षणभर के लिए वे दूर हों। जब बच्चा मां के बिना सुख से नहीं रह सकता तो क्या मां बच्चे के बिना सुखी वा शान्त रह सकती है? सप्रेम जीवन पथ पर आगे बढो। वियोग के पश्चात् संयोग जरूरी है। दीपक स्वयं जलकर ही पतंगों को जलाता है। जो स्वयं नहीं जलेगा, क्या वह कभी दूसरे को जला सकता है?

प्यारे! यह सिद्धान्त है कि विस्मृति सदा दूसरे की ही होती है, अपने की नहीं। जो अपना है, अपनी जाति, गुण, स्वभाव तथा स्वरूपतः एक है, भला उसकी विस्मृति कैसी? ईश्वरीय विधान में सभी जीव प्रारब्धानुसार जीवन यापन कर रहे हैं, इसमें कोई परिवर्तन करने में समर्थ नहीं। यदि कोई उसका परित्याग करके पुरुषार्थ की शरण ले लेवे तो प्रारब्ध भोग से मुक्त भी हो सकता है। पुरुषार्थ का अर्थ परिश्रम नहीं, त्याग तथा ईश्वर समर्पण होता है। जीव जैसे अपने स्वभाव से मजबूर है। जीव की भेद दृष्टि तथा ईश्वर की अभेद दृष्टि सदा से नित्य रूप में विद्यमान है। जैसे नदियां अपना नाम रूप त्याग समुद्र से एक होकर उसके गुण–स्वभाव से युक्त हो जाती हैं उसी प्रकार जीव जब ईश्वर से सम्बन्ध करता है तो वह भी ईश्वरीय स्वभाव से युक्त हो, निश्चिन्त हो, कृतकृत्य हो जाता है।

प्यारे! प्रभु प्रिय जीवन में चिन्ता तथा भय के लिए स्थान कहां? जो पूर्णरूपेण अनन्त का हो गया, भला वह जगत् के प्यार का कभी भिखारी हो सकता है? जिसे परमपिता परमात्मा का विश्वास प्राप्त हो गया, वह कभी भी किसी की आशा नहीं करता। कई बार कहा गया है कि जिसने जगत् की पूर्ति का साधन अपने को स्वय बना रखा हो, वह जगत् की गुलामी क्यों करे? ईश्वर भक्त वही हो सकता है जो कि किसी से कुछ न चाहते हुए जगत् के काम आ जावे।

प्यारे! कचन तथा कामिनी का त्याग करना कठिन नहीं किन्तु कीर्ति का त्याग करना महान् कठिन कार्य है। स्तुति करने वाले से गाली सुनकर भी हँसते हुए पहले की तरह उसे जो हृदय से लगाता है, वही ईश्वरीय गुण तथा स्वभाव को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। यदि साधक की स्तुति ही सदा होती रहे तो वह वास्तविकता से वचित रह जाता है क्योंकि स्तुति आड़ रूप से उसके हृदय का आच्छादन कर उसमें अहंकार उत्पन्न कर देती है जिससे वह लक्ष्य से दूर हो जाता है। यदि साथ–साथ प्रभु कृपा से उसका विरोध भी होता रहे तो अहंकार से मुक्त होकर उसे लक्ष्य में स्थित और प्रभु प्रेम में निमग्न हो परम प्रसन्नता प्राप्त करने में सुगमता हो जाती है। जो परिस्थिति सामान्य लोगों को दु:ख सिन्धुवत् प्रतीत होती है, वही विवेकी साधक के लिए परम प्रसन्नता का कारण बनती है।

हरि ॐ तत्सत्

❋✧❋★❋

✧❋★❋

❋✧❋

❋★

✧

सम्पर्क सूत्र

ब्रह्मर्षि आश्रम
विराट् नगर् पिंजोर (हरियाणा)
पिन- 134102
फोन :-01733-266170

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
28-डी, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110032
फोन :-011-22821660,22821943

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
माधोपुरी, गऊशाला रोड़, लुधियाना
फोन :-0161-2700141,270631

ब्रह्मर्षि बावरा शिक्षा निकेतन
(अंग्रेजी मीडियम)
वेअन्तपुरा, चण्डीगढ़ रोड़, लुधियाना
फोन :-0161-2666406,2608406

ब्रह्मर्षि बावरा शान्ति विद्यापीठ
दीनानगर, धार रोड़, उधमपुर (जे.के.)
फोन :-01992-271080

ब्रह्मर्षि प्राकृतिक चिकित्सालय
योग आश्रम
पुरी फानसां, जोड़ियां, रादौर रोड़,
यमुनानगर-135001(हरियाणा)
फोन:- 01732-279846

ब्रह्मर्षि बावरा विद्या मन्दिर
चकर्किशुनदास, ज्ञानपुर, भदोही,
वाराणसी (उ0प्र0)

ब्रह्मर्षि योगाश्रम
न्यू बाईपास, ऋषिकेश रोड़,
भूपतवाला, हरिद्वार (उ0 प्र0)
फोन:-0133-461018

श्रीगीता रामायण सेवा संघ
अशोक नगर, मोक्ष मार्ग,
उदयपुर (राजस्थान)
फोन:-0294-2414140

Metaphysical Science Research Institute
Sec.19-A, Chandigarh
Phone : 0172-725390, 540128

Brahmrishi Mission School
Jarar, Devvan, Piplaage
Bhunter, Kullu (H.P.)
Ph. 01902-265518,266043

Brahmrishi Mission School
Hanumangarh Road,
Opp. New Water Works,
ABOHAR-152116
Ph. : 01634-229615, 230615

Brahmrishi Misson
278, Heston Road, Heston
Middlesex TW5 ORT U.K.
Phone : 0208-571-3879

Brahmriahi Mission CANADA
Shri-Ram-Dham Hindu Temple
525 Bridge Street,
East Kitchener, Ontario
CANADA N2K3C5
Phone : (519) 579-1486

Brahmrishi Ashram
1246, North Mantua Street, Kent,
Ohio- 44240, U.S.A..
Phone : 330-678-3793

Brahmrishi Ashram
717, Loosduinseweg,
2571 AM-Denhaag, Nederland.
Ph.: 070-3620961

हमारे प्रकाशन

✤ शक्ति तत्त्व बोध ✤ आपकी अपनी बात ✤ गीता ज्ञान विज्ञान योग
✤ श्रीहनुमत् विनय पच्चीसी ✤श्री चण्डिकाशतक ✤ श्री श्यामशतक
✤ मानस में धर्मरथ ✤ रामो विग्रहवान् धर्मः ✤ मानस महाकाव्य में नारी
✤ गीता तत्त्व बोध ✤ क्या वर्ण-व्यवस्था अभिशाप है ? ✤ राम नाम महिमा
✤मानस के मोती ✤ जीवन विज्ञान ✤ भारत की आत्मा ✤ योगाकुंर
✤ साधना सूत्र ✤ गीता कर्म विज्ञान ✤ समाधान ✤तत्त्व चिन्तन ✤ सन्त सन्देश
✤भक्ति दर्शन (नारद भक्ति सूत्र) ✤ राम और रामायण ✤क्रियायोग
✤ मानव पतन में हेतु ✤ योग पथ ✤ विश्व को हिन्दुओं का योगदान
✤ मानस में वैदिक सिद्धान्त ✤ सन्त लक्ष्ण ✤ श्री हनुमत हृदय
✤संस्कृत भाषा का महत्व ✤ ब्रह्म और उसकी विशिष्टाभिव्यक्ति ✤ सहज समाधि भली
✤ब्रह्मविद्या विज्ञान-प्रथम ✤ ब्रह्मविद्या विज्ञान—द्वितीय ✤ नारी ! तुलसी की दृष्टि में
✤ शिव तत्त्व बोध ✤ विश्व की समस्याओं का हल—अध्यात्मवाद ✤हिन्दू धर्म सूत्र
✤ गीतोक्त बुद्धियोग ✤ चंडी दी वार (भगवती की स्तुति) ✤ काव्य सुधा
✤ श्री शिव शतक ✤ मानस में नवधा भक्ति ✤ महात्मा भरत ✤ हनुमत पच रत्न
✤राष्ट्र का मुखिया कौन ?(वज्रसूचिकोपनिषद् के आधार पर तात्त्विक विश्लेषण)
✤श्रीमद्भगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय १ एवं २)
✤श्रीमदभगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय ३ एव ४)
✤श्रीमदभगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय ५ एवं ६)
✤श्रीमदभगवद्गीता धर्म विज्ञान भाष्य (अध्याय ७ एवं ८)
✤वैदिक सनातन धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या
✤शास्त्र और श्रद्धा (एक तात्त्विक विश्लेषण)

Science of Stable Wisdom • The Science of *Pranav (om)* *(Commentary on Mandookyopanishad)* • How to be a Yogi • Towards Divinity •Yoga for life • The Hindu & its way of life • Essence of the Gita • Basic Principles of Yoga • Essays on the Kram Yoga • Lord Hanuman-Our Ideal • Meditation Technique • Science of the Absolute Knowledge *The Nature of Sacrifice *(Commentary on Ishopanishad)*

दिव्यालोक मासिक पत्रिका

सद्विचारों के प्रचार और प्रसार की मासिक पत्रिका

एकत्वमनुपश्यतः

ब्रह्मर्षि मिशन

दिव्यालोक प्रकाशन

ब्रह्मर्षि आश्रम, विराट् नगर, पिंजौर (हरियाणा)

फोन : 01733-266170